परमशान्ति प्राप्ति हेतु

(गद्य-पद्यमय)

- आचार्य कनकनन्दी

पुण्य-स्मरण

जैन वेबिनार 2020 के अन्तर्गत (1) विश्व द्रव्य विज्ञान (द्रव्य संग्रह) (2) स्वतन्त्रा के सूत्र (मोक्ष शास्त्र) का सीधा प्रसारण जैनम् व श्रुत रत्नाकर डिजीटल चैनल द्वारा प्रबोधन

स्वप्रेरित अर्थ सौजन्य (ज्ञानदानी)

डॉ. विनोद भट्ट व प्रो. दीपा भट्ट (ब्रिटेन के कैम्ब्रिज व यू.के. के यूनिवर्सिटी की प्रोफेसर)

ग्रंथांक-337 संस्करण-प्रथम 2020

प्रतियाँ-500 मूल्य- 101 ₹

प्राप्ति स्थान एवं सम्पर्क सूत्र

आचार्य श्री कनकनन्दी जी गुरुदेव द्वारा आशीर्वाद प्राप्त

(1) धर्म-दर्शन सेवा संस्थान

द्वारा- श्री हेमन्त प्रकाश देवड़ा (महावीर)

चन्द्रप्रभ दि. जैन मन्दिर, आयड़, आयड़ बस स्टॉप के पास,

उदयपुर (राज.)-313001/मो. 94608-78187

(2) डॉ. नारायणलाल कछारा

सचिव-धर्म-दर्शन सेवा संस्थान, 55, रवीन्द्रनगर, उदयपुर (राज.)-313001

फोन नं. 0294-2491422/मो. 092144-60622

E-mail:nlkachhara@yahoo.com

समय का सदुपयोग आत्मविकास हेतु करूँ

(पमायेण एक समय ण मुक्कउ; शुद्धात्मा ही स्वसमय)

(इससे मेरी समता शान्ति आत्मविशुद्धि, बुद्धिलब्धि कार्यक्षमतादि में हो रही है वृद्धि)

(चालः- (1) आत्मशक्ति....(2) क्या मिलिए....) - आचार्य कनकनन्दी

अनादिकाल से अनन्त भवों में काल गँवाया मैं अनन्त।
इसका अनन्तवाँ भाग यदि आत्म कल्याण में लगाता पा जाता 'मैं' मोक्ष।।
अतएव मैं अभी हर पल आत्म कल्याण हेतु ही करूँ समर्पण।
श्रद्धा-प्रज्ञा-चर्या में यथायोग्य, करूँ आत्म हेतु समर्पण।।(1)

मनन-चिन्तन ध्यान अध्ययन में, काल बिताना है सतत।
अट्ठावीस मूलगुण व छत्तीस मूलगुण पालन में भी सतत।।
समता शान्ति आत्मविशुद्धि में/(से) काल बिताना है सतत।
आलस्य प्रमाद में अमूल्य समय को नष्ट न करना है मुझे।। (2)

ख्याति पूजा लाभ प्रसिद्धि वर्चस्व हेतु काल न गँवाना है मुझे।
अनावश्यक व अनर्थ काम में काल न गँवाना है मुझे।।
संकल्प-विकल्प-संक्लेश-द्वन्द, अपेक्षा उपेक्षा प्रतीक्षादि में।
समय न गँवाऊँ पर प्रपंच व निन्दा-अपमान वैर-विरोध में।। (3)

पर प्रतिस्पर्द्धा या अन्धानुकरण से न गँवाऊँ काल कभी 'मैं'।
आडम्बर ढोंग पाखण्ड या धन जन संग्रह लोकानुरंजन में।।
आहार, विहार, निहार आदि में भी करूँ 'मैं' सदा शोध-बोध।
मनन,चिन्तन,अनुप्रेक्षा से करूँ मैं सतत समय सदुपयोग।। (4)

आबालवृद्ध व गुणी-दुर्गुणी से या प्रकृति के हर घटक से।
शिक्षा 'मैं' लहूँ पाप-पापी से, तथाहि षट्द्रव्य, सप्ततत्त्व, नव पदार्थ से।।
शोध-बोध व अनुभव से प्राप्त ज्ञान का 'मैं' करूँ सदा सदुपयोग।
शिविर, संगोष्ठी, स्वाध्याय, लेखन द्वारा करूँ समय का सदुपयोग।।(5)

शिष्य भक्तों से जो हो रही सेवा व्यवस्था उसका करूँ 'मैं' सदुपयोग।

स्वपर विश्वकल्याण निमित्त करूँ मैत्री प्रमोदकारुण्य माध्यस्थ भावना।।
द्रव्य क्षेत्र काल सन्तुलन द्वारा स्वशक्ति से करूँ उत्सर्ग अपवाद से।
संकीर्ण कट्टर-अविवेक रिक्त करूँ 'मैं' व्यापक उदार सापेक्ष दृष्टि से।। (6)

आवश्यकता से अधिक अनिवार्यता या प्राथमिकता के अनुसार करूँ कार्य।
अनावश्यक या अप्रयोजनभूत आनुषंगिक काम में न करूँ दुरुपयोग समय।।
यह सब काम बाल्यकाल से कर रहा हूँ उत्तरोत्तर वृद्धि क्रम से।
उन अनुभव व लाभ से शिक्षा लेकर अधिक से अधिक करना सदुपयोग मुझे।।(7)

इससे मुझे मिल रही समता शान्ति से आत्मविशुद्धि व बुद्धिलब्धि।
शोध-बोध व अध्ययन-अध्यापन,लेखन,मनन चिन्तन में वृद्धि।।
आगम विरूद्ध व अनावश्यक विहार विधान, पंचकल्याणक आदि में।
समय शक्ति का दुरुपयोग न करूँ, श्रावकाश्रित धर्म से गृहस्थ काम में।। (8)

आत्मकल्याण रूपी परम लक्ष्य योग्य करूँ सन्तुलित भाव-व्यवहार।
अधिक से अधिक आत्मविकास करूँ ''सूरी कनक' का है शुभ विचार।। (9)

ग.पु.कॉ, दि. 3.6.2020, रात्रि 11.16 व 12.7
(यह कविता क्षु. सुवीक्षमती के कारण बनी)

स्वभाव प्राप्ति व विभाव त्याग क्रम

(इस हेतु आगम अनुभव व सब से शिक्षा लहूँ)

(चाल : आओ धीरे-धीरे चेतन....) - आचार्य कनकनन्दी

आओ धीरे धीरे आत्मन् अपने भाव में।
अपने भाव में आत्मन् शुद्धात्म भाव में।।
तेरा स्वभाव चैतन्यमय अनन्तज्ञान दर्श सुख वीर्य।
अस्तित्व वस्तुत्व से ले स्वयंभू व स्वयंपूर्ण।। (1)

इसके अतिरिक्त अन्य सभी पर भाव।
राग द्वेष मोह से ले तन से ले मन।।
संकल्प विकल्प से ले संक्लेश द्वन्द्व।
जन्म मरण से ले आधि व्याधि दुःख।। (2)

तथाहि ख्याति पूजा लाभ प्रसिद्धि
पर निन्दा अपमान से ले प्रतिस्पर्द्धादि।
भोगोपभोग सत्ता सम्पत्ति डिग्री।
शत्रुमित्र भाई बन्धु कुटुम्ब आदि।। (3)

इससे परे होता तेरा स्वभाव।
उसे प्राप्त करना ही तेरा कर्त्तव्य।।
इस हेतु ही करो ध्यान व ज्ञान।
तप त्याग, मनन से ले चिन्तन।। (4)

इससे ही होगा आत्मक्रम विकास।
गुणस्थान आरोहण से पाओगे मोक्ष।।
इस ही क्रम से बने अनन्तावन्त सिद्ध।
अनात्म त्याग से पाये परमात्म भाव।। (5)

इससे शिक्षा लेकर करो आत्मविकास।
इस हेतु चाहिए राग द्वेष मोह विनाश।।
इस से भिन्न रागी द्वेषी (मोही) करते आत्म पतन।
इससे शिक्षा ले करो हे! मोह हनन।। (6)

अनुयोग चारों से भी मिली ये शिक्षा।
अनुभव से भी आत्मन् तू सत्य पाया।।
भले अनुभव अभी तेरा नहीं पूर्ण।
किन्तु अपूर्ण ही क्रम विकास से बने पूर्ण।। (7)

यथा आज्ञा सम्यक्त्व ही बने क्षायिक सम्यक्त्व।
तथाहि सम्यग्ज्ञान व सम्यक् चारित्र।।
निश्चय व्यवहार रत्नत्रय मोक्षमार्ग व मोक्ष।
यह स्वभाव पाओ व विभाव त्यागो ''कनक''।।(8)

ग.पु. कॉ. 27.5.2020 रात्रि 9.50

(श्रुतपंचमी को प्रारंभ दो शास्त्रों के अवसर पर दो नियम (1) ''अनात्म त्याग'' (2) ''सब से शिक्षा ग्रहण'' के निमित्त से भी प्रभावित-प्रेरित यह कविता)

अनुभव अमृत पीयो/पायो

(चाल : पायोजी मैंने रामरतन धन.... - आचार्य कनकनन्दी

पायोजी/(पीयोजी) मैंने अनुभव अमृत पायो/(पीयो)...
जिस अमृत से आत्मा बने परमातम, ऐसा अमृत मैं पायो...(ध्रुव)...
वह अमृत है आत्मविश्वास ज्ञान चारित्र, समता-शान्ति-निस्पृहता-पवित्रता...
इससे बढ़ती आत्मविशुद्धि व शक्ति, नशे संकल्प-विकल्प-संक्लेश...(1)
तेरा मेरा भेद भाव राग द्वेष मोह, ईर्ष्या तृष्णा घृणा व वैर विरोध...
अपेक्षा-उपेक्षा-प्रतीक्षा भी नशे, तथाहि आशा-निराशा व द्वन्द्व...(2)...
ख्याति-पूजा-लाभ-प्रसिद्धि-वर्चस्व नशे, अष्टमद जन्य वर्चस्व-प्रभुत्व नशे...
सरल-सहज-मधुर सरस जगे विनम्रता-मधुरता के भाव....(3)...

इससे सन्तुष्टि व तृप्ति भी बढ़ती, निश्चलता-निश्छलता व लघुता...
आत्मानुभूति-आत्मविशुद्धि बढ़ती, तथा मैत्री प्रमोद करुणा साम्य...(4)...
उत्तरोत्तर गुणस्थान वृद्धि क्रम से, मुक्ति मिलती पूर्ण कर्म नाश से....
अक्षय अव्यय आत्म वैभव मिले, अतः यह अमृत 'सूरी कनक' पीवे...(5)
(ग.पु.कॉ., दि. 4.6.2020, मध्याह्न 2.27

धर्म का फल जानना चाहूँ आत्मविशुद्धि से

चाल : तेरे प्यार का आसरा....) - आचार्य कनकनन्दी

धर्म का फल मैं जानना चाहता हूँ,
''धर्म सर्व सुखाकरः'' (का) अनुभव चाहता हूँ।
''धर्मःरक्षति रक्षित'' (को) जानना चाहता हूँ,
''यो धरति उत्तमे सुखे सो धर्मः'' पाना चाहता हूँ।। (1)...

''वस्तु स्वभाव धर्म'' अतः मुझमें भी धर्म,
मुझमें भी उत्तम क्षमादि दश धर्म।
आत्म विश्वास ज्ञान चारित्र मुझमें,
मोक्ष मार्ग-मोक्ष भी स्थित है मुझमें।। (2)...

तिल में तैल तथा दूध में घृत,
शिला में मूर्ति यथा होती उपस्थित।
स्वयोग्य प्रक्रिया से होते वे प्रकट,

तथाहि स्व योग्य प्रक्रिया से धर्म प्रगट।। (3)...

इस हेतु ही करूँ सम्पूर्ण धर्म कर्म,
व्रत नियम व ध्यान-अध्ययन।
अन्यथा सभी धर्म कर्म भी व्यर्थ,
आत्मा बिना यथा शरीर शव।। (4)...

आत्म परीक्षण-आत्म विश्लेषणों से,
आत्म साक्षी पूर्वक आत्म सुधार से।
आत्म विशुद्धि व आत्मशान्ति से,
धर्म का फल जानूँ आत्म उन्नति से।। (5)...

आत्म उन्नति मेरी स्व परिणति,
आत्म श्रद्धा-प्रज्ञा तथा आत्मानुभूति।
पर परिणति तथा विभाव से निवृत्ति,
निस्पृह वीतराग व साम्य प्रवृत्ति।। (6)...

ख्याति पूजा लाभ व प्रसिद्धि वर्चस्व,
पर निन्दा-अपमान-वैर-विरोध।
धन जन मान सम्मान व प्रवृत्ति,
अधर्म है राग द्वेष व मोह में प्रवृत्ति।। (7)...

यह विधि जानूँ धर्म-अधर्म को, तुलना करके आत्मसाक्षी से।
बाह्य से दूँ अन्तरंग को महत्व, समता साधक 'आचार्य श्री कनक'।। (8)

ग.पु.कॉ., दि. 5.6.2020, मध्याह्न 12.19

आध्यात्मिक सच्चा श्रमण V/S श्रमणाभास अवास्तविक रूप

(आध्यात्मिक सन्त ही विश्वसन्त व भावी भगवन्त श्रमणाभास व उनके भक्त न बनते भगवन्त)

चाल: इक लड़की को देखा... - आचार्य कनकनन्दी

एक साधु को देखा तो ऐसा माना/(जाना), एक श्रद्धा स्वरूप, एक प्रज्ञापुरुष।
एक चारित्र रूप, एक साम्य स्वरूप, एक मोक्ष पथिक, एक तीर्थ स्वरूप।।(1)

भले बाह्य में वे होते देह रूप, श्रद्धा प्रज्ञा में/(से) वे होते मोक्षभूत।
देह को वे मानते मोक्ष साधक रूप, अतः आहार औषधि लेते तप वर्द्धक।।(2)

शरीर को ही जब वे मानते पर, परिग्रह ग्रहण में कैसे होंगे तत्पर।
राग द्वेष मोह को वे मानते शत्रु, उसे सम्वर्द्धन करने में कैसे होंगे तत्पर।। (3)

बाह्य शत्रु-मित्र से वे होते परे, अन्तरंग शत्रु-मित्र को जानते भले।
अन्तरंग शत्रु को वे करते क्षय,अन्तरंग मित्र (रूपी) गुणों की वृद्धि में तन्मय।।(4)

स्व-आत्म वैभव में वे होते सम्पन्न, बाह्य भौतिक सम्पदा को मानते विपन्न।
जिससे मोही (रागी) स्वार्थी उन्हें न जानते, उन्हें दीन हीन असमर्थ मानते।।(5)

कुछ रूढ़िवादी स्वार्थी अन्ध भक्त होते, उन से भी धनमान सम्मान चाहते।
धार्मिक आयोजन उनसे कराना चाहते, भीड़ बोली से धनमान चाहते।।(6)

अतः ऐसे साधु उन कार्य में न जाते, ध्यान-अध्ययन प्रमुख साधना करते।
अतः वे मौन एकान्त में रहते, निस्पृह निराडम्बर आत्मसाधना करते।। (7)

जिससे वे अन्धभक्त उन्हें गलत मानते, उन्हें प्रणाम आदर भक्ति नहीं करते।
विधान पंचकल्याण चातुर्मास हेतु, निवेदन के विपरीत/(अनदेखा) बहिष्कार करते।। (8)

तो भी वे आध्यात्मिक सन्त महन्त, इसे स्व गौरव रूप में स्वीकार करते।
इससे उनकी साधना व शान्ति बढ़ती, समता विशुद्धि से आत्म उन्नति होती।।(9)

आदर सत्कार व ख्याति लाभ पूजा, मान सम्मान को वे मानते अनात्म काम।
इन सब को मानते अनुकूल उपसर्ग, प्रतिकूल परीषह से भी ये गर्हित।। (10)

उपसर्ग विजयी व अन्तकृत केवली हुए, ख्याति लाभ के इच्छुक नीचे गये।
पर रंजक व मनोरंजक होते नेता अभिनेता, आत्मरमण करने वाले विश्व नेता।। (11)

ऐसे सन्त ही होते हैं विश्व सन्त, वे ही बनते सर्वज्ञ भगवन्त।
वे ही तरणतारण व जीवन्त तीर्थ/(धर्म), उनका आदर्श माने 'कनकनन्दी' सन्त।। (12)

सच्चे सन्त के भक्त-शिष्य भले होते कम, किन्तु वे ही होते पुण्यशाली महान्।
वे पाते इहपरलोक में सुख-सम्मान, आत्मपतन करते स्वार्थी मोही जन।।(13)

ग.पु. कॉ. दि. 13.5.2020 रात्रि 9.40

(यह कविता मेरे आध्यात्म अनुभवी भक्त शिष्य यशवन्त जैन के कारण बनी)

मेरे आत्म विश्लेषण व आत्म सुधार व शिष्य-सम्बोधन हेतु

(अतः हे! मेरा मन रहता है शान्त, (मन शान्त रहने के कारण सुपरिणाम)

(चाल : झिलमिल सितारों का....) - आचार्य कनकनन्दी

अतः हे! मेरा मन रहता है शान्त, राग द्वेष मोह से रहूँ मैं विरक्त।
इससे न होते संकल्प-विकल्प-संक्लेश, ख्याति पूजा लाभ वर्चस्व रिक्त।।
धनी-गरीब तेरा-मेरा नहीं है लेश, शत्रु मित्र पक्षपात से दूर अशेष
संकीर्ण पंथमत बन्धन न शेष, नाश कर रहा हूँ अनुदार विशेष/(अशेष)(1)

अपेक्षा उपेक्षा प्रतीक्षा परे मैं रहूँ, हानि लाभ सुख दुःख में समता में रहूँ।
धन जन मान सम्मान न चाहूँ, ढोंग पाखण्ड आडम्बर न चाहूँ।।
माईक मंच होर्डिंग पत्रिका न चाहूँ, गाजा बाजा साज सज्जा न चाहूँ।
कोई आये न आये चिन्ता न करूँ, भीड़ प्रदर्शन की इच्छा न करूँ।। (2)

भक्त शिष्य आदि में वात्सल्य धरूँ, स्वपर विश्वहित चिन्तन करूँ।
मैत्री प्रमोद कारुण्य माध्यस्थ धरूँ, संकीर्ण स्वार्थ हेतु भाव (काम) न करूँ।।
आशीर्वाद यथायोग्य सभी को मैं दूँ, पक्षपात व स्वार्थ से रहित रहूँ।
परनिन्दा अपमान चापलुसी न करूँ, गुणगण कथा दोष वादे च मौन रहूँ।।(3)
ध्यान अध्ययन मौन चिन्तन करूँ, अध्यापन लेखन प्रवचन मैं करूँ।
दबाव प्रलोभन भय रहित करूँ, समता शान्ति आत्म विशुद्धि। हेतु करूँ।।
आत्महित प्रमुखता से मैं करूँ, परहित यथायोग्य सम्यक् करूँ।
आत्महित विरुद्ध भाव-काम न करूँ, गृहस्थ धर्म में हस्तक्षेप न करूँ।।(4)

पर प्रतिस्पर्द्धा अन्धानुकरण त्यजूँ, ईर्ष्या घृणा तृष्णा से मुक्त मैं रहूँ।
स्वप्रसिद्धि हेतु धनजन न चाहूँ, इस हेतु गृहस्थों को दबाव न डालूँ।।
T.V. प्रोग्राम विज्ञापन हेतु न कहूँ, विधान पंच कल्याण हेतु न कहूँ।
दया दान सेवा का ज्ञान मैं दू, संकीर्ण स्वार्थ पूर्ति भाव न करूँ।। (5)

सेवा दान करने वालों से मोह न करूँ, नहीं करने वालों से घृणा न करूँ।
सभी के हेतु शुभ भावना करूँ, नहीं करने वाले करे भावना करूँ।।
इस हेतु एकान्त मौन में रहूँ, स्वच्छ शान्त वातावरण में रहूँ।
शोध बोध आत्म प्रबोधन मैं करूँ, आत्मविशुद्धि शान्ति बढ़ाता चलूँ।। (6)

आत्म विश्वास ज्ञान चारित्र बढ़ाऊँ, स्व आत्म वैभव का गौरव करूँ।
आत्मगुण बढ़ने का मूल्य मैं करूँ, आत्मशुद्धि-शान्ति को लाभ मैं मानूँ।।
मेरा मैं कर्त्ता धर्त्ता विधाता भोक्ता, अन्य का न कर्त्ता धर्त्ता विधाता भोक्ता
पुण्य पाप स्वर्ग मोक्ष मेरे ही मुझमें, अतएव उद्धारक मुझ में मैं मेरा ही।।(7)

मेरा परम लक्ष्य एकमेव स्वात्मोपलब्धि, इस में ही केन्द्रित सभी पुरुषार्थ।
एकाग्र चिन्ता निरोध ध्यान (इसमें) करूँ, संक्षेप में मन स्थिर शान्ति उपाय करूँ
इन सब कारणों से मेरा मन है शान्त, (स्थिर), ध्यान अध्ययन में होता प्रवृत
चिन्तन मनन स्मरण व शोध बोध, लेखन अध्यापन में सदा प्रवृत्त।। (8)

ये मेरे आत्मविश्लेषण सम्बोधन, लाइफ स्टाइल व दैनिक जीवन। (लेखन)
जीवन जीने की कला व आराधना, ''सूरी कनक' का लक्ष्य मनातीत होना।
ग.पु. कॉ. दि. 24.4.2020 रात्रि 10.11
(यह कविता कॉलोनी के भक्त-शिष्यों व मेरे हजारों बालक शिष्यों से लेकर साधु शिष्यों के अनुभव के कारण बनी)

मेरा सकारात्मक आध्यात्मिक भाव-व्यवहार

(विरोध-अविरोध में सन्तुलन भाव-व्यवहार)

(चाल : 1. तुम दिल की....2. क्या मिलिए.... - आचार्य कनकनन्दी

मान-सम्मान अपमान परे, मेरा है शुद्ध स्वरूप।
तथापि मैं किसी का न करूँ, अपमान यह है व्यवहार रूप।।
तथाहि मैं हूँ अजर-अमर, अव्यय सनातन द्रव्य
तथापि मैं किसी जीव का, न करूँ हनन भाव-द्रव्य।। (1)

मैं हूँ सत्य द्रव्य रूप से, वचन से मैं अगोचर।
तथापि मैं स्व पर हित हेतु, कहूँ हित-मित-प्रिय।।

मैं हूँ विदेही तो भी देहधारी से, न करूँ ईर्ष्या-घृणा।
विदेही बनने हेतु साधना करूँ, तथापि करूँ देह की रक्षा।। (2)

दान व त्याग हेतु प्रवचन करूँ, न करूँ धन की इच्छा।
आगम अनुसार दान ग्रहण करूँ, न करूँ याचना बोली चन्दा-चिट्ठा।।
प्रभावना करूँ रत्नत्रय से, ग्रन्थ रचना प्रवचनादि से।
ख्याति पूजा लाभ प्रसिद्धि वर्चस्व, रहित शुभ भावना से।। (3)

प्रेरणा प्रोत्साहन प्रशंसा आदि से, अन्य को आगे ही बढाऊँ।
कूट कपट दम्भ भय प्रलोभन से, अन्य से /(की) वंचना न करूँ।।
फैशनी-व्यसनी-पापी-दोषियों को, जानूँ यथार्थ रूप से।।
उन्हें सुधार हेतु यथायोग्य सोचूँ, न करूँ घृणा उनसे।। (4)

गुणी-दुर्गुणी सभी से सीखूँ,क्षीर-नीर विवेक से।
भेड़-भेड़िया चाल से किसे भी, न मानँ न चलूँ मिथ्या पथ में।।
उदार पावन सत्य समतामय, धर्म को मैं सदा पालूँ।
संकीर्ण रूढ़ि कट्टर क्रूरमय, धर्म को मैं न पालूँ।। (5)

अपेक्षा-उपेक्षा-प्रतीक्षा परे, आत्म विश्वास ज्ञान चारित्र पालूँ।
संकल्प-विकल्प-संक्लेश परे, महान लक्ष्य हेतु काम करूँ।।
सरल-सहज-पावन बनूँ, श्रद्धा-प्रज्ञा व अमूढ दृष्टि से।
आत्म विकास हेतु सजग रहूँ, किन्तु उदासीन रहूँ पर प्रपंच से।। (6)

इन्द्रियों से ही ज्ञानार्जन न करूँ, किन्तु करूँ अनुभव से भी।
देखा सुना पढ़ा को ही सत्य न मानूँ, किन्तु मानूँ परम सत्य भी।।
इच्छा, बुद्धि से भी परे श्रेष्ठ मानूँ, भावना व अन्तःप्रज्ञा को।
सत्ता-सम्पत्ति-प्रसिद्धि-डिग्री परे, महत्व दूँ पावन भावना को।। (7)

आगम अनुभव द्रव्य क्षेत्र काल, भावानुसार काम/(धर्म) करूँ।
आत्मविशुद्धि-समता-शान्ति, सत्य को प्रमुख करूँ।।
शोध-बोध व आत्मानुभव, हेतु सतत प्रयास करूँ।
आडम्बर, दिखावा रहित 'कनक' आत्म विकास सदा करूँ।। (8)

आत्मा को परमात्मा बनाना ही, मेरा है परम लक्ष्य।
इस हेतु ही मैं साधना करूँ, नहीं सांसारिक कुछ भी लक्ष्य।।
भले कोई मुझे सही माने, अथवा गलत या ढोंगी दम्भी।
दीन-हीन अहंकार-ममकार परे, बनूँ आध्यात्मिक कामी।। (9)

इस हेतु पढ़ूँ देश-विदेशों के, धर्म-दर्शन व विज्ञान।
शोध-बोध व प्रयोग करूँ, प्राप्त करूँ सम्यक् ज्ञान।।
मधुप, हंस, गाय सम बनूँ, न बनूँ जोंक, सर्प व मच्छर।
व्यवहार-निश्चय, उपादान-निमित्त से, पाऊँ आध्यात्मिक सार।। (10)

ग.पु. कॉ., दि. 7.6.2020, रात्रि11.32
(यह कविता दिनेश चन्द्र शाह व यशवन्त शाह के कारण बनी)

जब आप कृतज्ञता जताते हैं, तब ज्यादा खुशी का अनुभव करते हैं

शोध बताते हैं कृतज्ञता हमारी दिमागी और शारीरिक सेहत के लिए फायदेमंद हैं जब हम चीजों को लेकर कृतज्ञ होते हैं तो ज्यादा खुशी महसूस करते हैं। मुश्किल वक्त में लोगों को 'धन्यवाद' देना हमारे अकेलेपन को काफी दूर कर रसकता है, इस तरह सामाजिक जुड़ाव का अहसास भी होता है और मन व उदारता उतपन्न होती हैं हम ठीक से व्यक्त नहीं कर पाते हैं लेकिन कृतज्ञता को हम अपने अंदर लगातार महसूस करते रहते हैं।

मुश्किल घड़ी में धन्यवाद कहने के पांच तरीके

तारीफ करने की आदत डालें

1. काम के दौरान सहकर्मियों को दो मिनट के लिए लाइव चैट करने की इजाजत भी दी जा सकती है। इस दौरान टीम के सदस्य चाहें तो अपने सहकर्मियों की तारीफ भी कर सकते हैं। हर दूसरे की सराहना करके समुदाय को आगे बढ़ाने में अपना योगदान दिया जा सकता है। मीटिंग में भी लोगों की तारीफ करके उन्हें भरोसा दिया जा सकता है।

समझे-खुशी कैसे मिलेगी

2. लोगों को किस बात से खुशी मिलती है, पहले तो यह समझना जरूरी है। यदि किसी सहकर्मी को केवल आपके शब्दों के माध्यम से मिलने वाले समर्थन से ही खुशी मिलती है, तो उसे ठीक वैसा ही एक नोट बनाकर दिया जा सकता हैं। यदि कोई सहकर्मी तब खुश होता है जब आप उसकी काम में मदद करते हैं तो उनकी किसी रिसर्च प्रोजेक्ट में मदद की जा सकती है।

स्टार अट्रेक्शन जैसा फील कराएं

3. कंपनी में खामोशी से काम करने वाले छोटे व शांत कर्मचारियों को भी खास बातचीत में शामिल किया जा सकता है। कर्मचारियों द्वारा कंपनी के लिए समय-समय पर की गई कोशिशों का भी मीटिंग में जिक्र होना चाहिए। ज्यादातर एक्जिक्यूटिव्स हफ्ते में एक बार टीम मीटिंग लेते हैं, ऐसे में हर हफ्ते एक कर्मचारी को सेंटर स्टेज दिया जा सकता है।

सकारात्मक रहें और प्रेरित करें

4. शोध बताते हैं कि कृतज्ञता को पाने वाला व्यक्ति भी कहीं न कहीं ज्यादा उदार होता है और दूसरों की मदद करने के लिए प्रेरित रहता है। संस्थान के अंदर इस तरह का माहौल पैदा करने के लिए 'पे-इट-फॉरवर्ड' मूवमेंट चलाया जा सकता है। जो लोग कृतज्ञता को महसूस कर चुके हैं उन्हें भी दूसरों की तारीफ करने के लिए प्रेरित किया जा सकता है।

एक टीम की तरह दें 'धन्यवाद'

5. एक टीम की तरह काम करते हुए किसी कर्मचारी के शानदार परफॉर्मेंस पर उसे पूरा श्रेय दिया जा सकता है। इसके लिए ऑनलाइन टूल्स की मदद भी ली जा सकती है। हमेशा याद रखें कि मिलकर तारीफ करना ज्यादा असरदार साबित होता है।

इस कठिन समय में तीन बातें जो काम में मददगार होंगी

यही सही अवसर है टॉप टेलेंट में निवेश करने का

काबिल कैंडिडेट्स पर नजर रखें और उनके वर्तमान जॉब स्टेटस की

जानकारी लें। कई लोग पैसे से ज्यादा फ्लेग्जिबल टाइमिंग्स को प्राथमिकता देते हैं। नए टैलेंट में निवेश करके काम को नई रफ्तार दी जा सकती है। नाउ इज ऐन अनप्रीसीडेंटेड-ऑपोर्चुनिटी टू हायर ग्रेट टेलेंट, क्लॉडिओ फर्नांडेज)

कुछ पल शांत रहकर अगली मीटिंग की शुरुआत कीजिए

जब तनाव ज्यादा होता है तो उत्पादकता कम हो जाती है। मीटिंग की शुरुआत मेडिटेशन से की जा सकती है। केवल कुछ मिनट माडिटेशन से बेचैनी कम होती है, रचनात्मकता और सोचने की शक्ति बढ़ती है। हो सकता है शुरुआत में ध्यान भटके लेकिन लगातार प्रयास से सुधार होगा।

(वाय लीडर्स नीड मेडिटेशन नाउ मोर देन एवर, मैथियास वर्क)

नए नियमों का पालन करने में ऐसे मदद कर सकते हैं लीडर्स

नए नियम और नए सुरक्षा मापदंडों के साथ ऑफिस शुरू हुए हैं। लीडर्स ही कर्मचारियों को नए नियमों का पालन करने के लिए प्रोत्साहित करें। यदि पालन नहीं हो, तो तुरंत सूचना दें। एक प्रतिबद्ध लीडर यह कार्य सहजता के साथ कर सकता है। (5 टिप्स फॉर सेपली-री-ओपनिंग यूअर ऑफिस, जोसेफ ग्रेनी)

कोरोना से पता चली बचाव में अहमियत
बचपन से बढ़ाएं इम्युनिटी

आरोग्य सूत्र

कोविड-19 के दौर में हर कोई चाहता है कि उसकी इम्युनिटी रातोंरात बढ़ जाए। लेकिन ऐसा संभव नहीं। इसके लिए बचपन से ही ध्यान देना जरूरी है।

इम्युनिटी यानी रोग प्रतिरोधक क्षमता किसी एक चीज का नाम नहीं है। यह एक सिस्टम है। इसमें कुछ अंग जैसे थाइमस, स्पिलीन, लिफनोड्स और सेल्स जैसे टी सेल्स आदि जुड़े हैं। इन सबसे कुछ रसायन बनते हैं जिनसे पूरे शरीर के लिए एंटीबॉडीज बनते हैं जो इम्युनिटी बढ़ती है। जानते हैं इम्युनिटी कैसे घटती-बढ़ती है।

टीकाकरण

नियमित टीकाकरण से इम्युनिटी बढ़ती है। बच्चों को जन्म के समय से ही

वैक्सीन लगाए जाते हैं। वैक्सीन में खास बीमारी या वायरस से लडने वाले रसायन होते हैं जो शरीर में प्रोटेक्टिव एंटीबॉडीज बनाते और बीमारियों से बचाव करते हैं।

व्यायाम और बैक्टीरिया

30 मिनट रोज और सप्ताह में करीब 150 मिनट व्यायाम हर किसी को करना चाहिए। व्यायाम के समय हार्ट रेट 25 फीसदी बढ़नी चाहिए जिससे ब्लड सर्कूलेशन बढ़े। इससे फेफड़े समेत सभी महत्वपूर्ण अंग सक्रिय होते हैं। शरीर का तापमान भी बढ़ता है। ऐसे में कोई बैक्टीरिया बाहर से आता भी है तो रक्त संचार अधिक होने से बाहर निकल जाता है। व्यायाम से श्वेत रक्त कोशिकाएं बढ़ती और स्ट्रेस हार्मोन घटते जिससे इम्युनिटी मजबूत होती है।

तनाव से सेल्स को नुकसान

जिन्हें लंबे समय से तनाव है, उनकी इम्युनिटी घट जाती है। उनका इम्युन सिस्टम बिगड़ जाता है। तनाव लेने से शरीर में कई कैमिकल्स रिलीज होते हैं जो अंगों तक ब्लड और आक्सीजन पहुंचाने वाले धमनियों पर असर डालते हैं। वे सिकुड़ जाती है। इसे वेजोकंस्ट्रक्शन कहते हैं। इससे अंगों तक कम ऑक्सीजन पहुंचती है। वहां के सेल्स डेमेज होने लगते हैं। जिन्हें कोई परेशानी है और वे तनाव लेते है तो समस्या गंभीर हो सकती है।

नींद में होती है रिपेयरिंग

रोज 6-8 घंटे की नींद भी इम्युनिटी के लिए जरूरी है। नींद में डैमेज सेल्स की रिपेयरिंग होती है। नींद में ही पॉजेटिव हार्मोन्स रिलीज होते हैं जो शरीर को एक्टिव बनाते हैं। जो रात में जागते और दिन में सोते हैं उनकी जैविक घड़ी (सर्केडियमरिदम) बिगड़ जाती है। इससे इम्युनिटी कम होती है। नींद पूरी लें।

धूम्रपान से प्रोटीन टूटते हैं

धूम्रपान से ऑटोइम्युन रोगों का खतरा रहता है। धुआं श्वास नली के प्रोटीन को बदल देता है जिससे हैल्दी प्रोटीन भी शरीर को नुकसान पहुंचाने लगते हैं। इसे मॉलिक्युलर मिमिकरी कहते हैं। वहां सूजन भी आने लगती है। एल्कोहल की लत और किसी लंबी बीमारी से भी इम्युनिटी पर असर पड़ता है।

90% में विटामिन डी कम

देश की करीब 90 फीसदी आबादी में विटामिन डी की कमी है। इससे भी इम्युनिटी घटती है। देश में अच्छी धूप मिलती है लेकिन लोग बाहर निकलते हुए पूरा शरीर ऐसे पैक कर लेते व सनस्क्रीन लगा लेते हैं कि त्वचा तक धूप की किरणें नहीं पहुंच पाती। इससे विटामिन डी नहीं मिलता है। सुबह 10-12 बजे के बीच आधा घंटा धूप में बैठें, इस समय ज्यादा यूवी किरणें होती हैं। 80 फीसदी शरीर पर धूप लगनी चाहिए।

पारंपरिक खानपान में पर्याप्त पोषक तत्व

अच्छी इम्युनिटी के लिए हैल्दीद डाइट लें जिसमें मल्टी विटामिन, प्रोटीन, मिनरल्स होने चाहिए। थोड़ी मात्रा में कार्ब्स-फैट भी हों। घर में बने पारंपरिक खाने में सम्पूर्ण पोषक तत्व मिलते हैं। सूखे मेवे, मौसमी-फल सब्जियां ज्यादा लें। मसालों में भी एंटीऑक्सीडेंटस अधिक, यह वायरस-बैक्टीरिया से बचाते हैं। डाइट समय से न लेने पर भी इम्युनिटी घटती है। जंक, फास्ट-फूड, समोसे, कचौरी से बचें। इनमें ट्रांसफेट होता है। अगर स्वाद के लिए कुछ खाना भी चाहते हैं तो सप्ताह में एक-दो बार ही खाएं।

अगर किसी को संक्रमण हो चुका है और वह इन उपायों को अपनाता है तो हाथोंहाथ इम्युनिटी नहीं बढ़ेगी। असर धीरे-धीरे होता है। इम्युनिटी कितने दिनों में बढ़ेगी यह कहना मुश्किल है। यह व्यक्ति की उम्र, शरीर की क्षमता आदि पर निर्भर करता है। **डॉ उमा कुमार**

विषयानुक्रमणिका

क्र.	विषय	पृ.स.
(1)	समय का सदुपयोग आत्मविकास हेतु करूँ	2
(2)	स्वभाव प्राप्ति व विभाव त्याग क्रम	3
(3)	अनुभव अमृत पीयो/पायो	5
(4)	धर्म का फल जानना चाहूँ आत्मविशुद्धि से	5
(5)	आध्यात्मिक सच्चा श्रमण v/s श्रमणाभास अवास्तविक रूप	6
(6)	मेरे आत्मविश्लेषण व आत्म सुधार व शिष्य-सम्बोधन हेतु	8
(7)	मेरा सकारात्मक आध्यात्मिक भाव-व्यवहार	9

परम शान्ति प्राप्ति हेतु

(8)	मेरी इष्ट प्रमुख प्रार्थना/मेरी संकल्पना-प्रतिज्ञा व साधना	18
(9)	अनन्त गुणात्मक नाम वाले परमात्मा	29
(10)	परम शान्ति प्राप्ति के हेतु	35
(11)	रहस्यों के रहस्य उद्घाटक	37
(12)	निर्भय निर्द्वन्द्व, निश्चल आत्मा	38
(13)	हर आत्मा अद्वितीय-अतुलनीय	44
(14)	समता से आत्मा बने परमात्मा	45
(15)	वास्तविक स्व परिचय v/s अवास्तविक विभाव रूप	65
(16)	विश्व विजयी आध्यात्मिक	81
(17)	पंचपरमेष्ठी ही विश्व में श्रेष्ठ-ज्येष्ठ-पूज्य	81

(18) आत्मविजयी होते हैं विश्वविजयी 86
(19) भक्त भगवान् बनने हेतु भक्ति करे (श्रद्धान युक्त भक्ति) 109
(20) श्रावक के कर्त्तव्य-विनय, वैयावृत्य, पूजन 116
(21) उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य की व्यापकता 119
(22) सुधर्म v/s कुधर्म 137
(23) सुकृतकारी का निषेध उसके साथ शत्रुता 138
(24) पर अपकारी होता है स्व अपकारी 163
(25) भातृप्रेम(भाईचारा), विश्व बन्धुत्व की समीक्षा 181
(26) आदर्श ग्रन्थ रचनाकार व ग्रन्थ रचना 192
(27) प्रवचनकर्त्ता व ग्रन्थकर्त्ता आचार्यादि के सद्गुण 212

सर्वत्र ध्यान रखने योग्य

वर्तमान की जैनधर्म सम्बन्धी समस्याओं व विषमताओं के समाधान-निवारण हेतु अनेक वर्षों (2004) से अनेक लोगों के व साधु-साध्वियों के निवेदन व रिपोर्ट से भी प्रेरित होकर (1) जैनधर्म के अभी की समस्याएँ एवं समाधान (2) श्रावक-साधु धर्म (3) ध्यान (4) भाव (5) भाव-द्रव्य प्रदूषणः समस्या-समाधान (6) जैन धर्म की संस्कृति व अभी की विकृति; कृतियों की रचना हुई।

दोष, निन्दा व अप्रभावना से बचने व बचाने हेतु मेरा यह शुभ प्रयास है, न कि अन्य की निन्दा आदि हेतु। -आचार्य कनकनन्दी

मेरी इष्ट प्रमुख प्रार्थना

मेरी संकल्पना-प्रतिज्ञा व साधना

(दुष्टाष्ट कर्मनाश हेतु मेरी शक्ति की आराधना
(आत्मशक्ति जागृति व पूर्ण प्राप्ति हेतु मेरी साधना)

(चाल :- वह शक्ति मुझे दो दयानिधे...) - आचार्य कनकनन्दी

वह शक्ति ही मुझे प्राप्त करना, जिस शक्ति से नाशूँ दुष्टाष्ट कर्म।
जिससे मैं बनूँ शुद्ध बुद्ध आनन्द, जिससे नशेंगे दुःख ताप दैन्य।।
इस हेतु करूँ स्वआत्मश्रद्धान, मैं हूँ चैतन्य शुद्ध ज्ञानानन्द।
तन मन इन्द्रियों से भी परे, राग द्वेष मोह काम क्रोध शून्य।। (1)

इस हेतु ही करूँ ज्ञान सम्यक्, आगम अनुभव शोध बोध से।
अनेकान्तमय व्यापक दृष्टि से, संकीर्ण पंथमत रूढ़ि परम्परा परे।।
स्वस्वरूप प्राप्ति हेतु करूँ साधना, जिसे ही कहते सम्यक् आचरण।
राग द्वेष मोह काम क्रोध नाश करूँ, यह ही मेरी सम्यक् साधना।। (2)

इस हेतु ख्याति पूजा लाभ त्यागूँ, त्यागूँ धन जन मान सम्मान।
भीड़ प्रदर्शन ढोंग पाखण्ड त्यागूँ, त्यागूँ संकल्प विकल्प संक्लेश द्वन्द्व।।
दीन हीन दंभ व प्रपंच त्यागूँ, प्रतिस्पर्द्धा वर्चस्व भोगोपभोग।
इह परलोक हेतु यह कामना न करूँ, ऐसी ही आत्मशक्ति नाशक जो
कामना(3)

आत्मशक्ति इससे ही होगी जागृत, स्कन्ध से अणु विखण्डन से शक्ति जागृत
समताशान्ति निस्पृहता पवित्रता से, ध्यान अध्ययन व मनन चिन्तन से।।
भले पंचम काल में पूर्ण न संभव, द्रव्य क्षेत्र काल संहनन अयोग्य से।
किन्तु श्रद्धा-प्रज्ञा कुंठित न करूँ, भावना अनुभव को बढ़ाता चलूँ।। (4)

जिस अंश में शक्ति होगी जागृत, उस अंश में कर्मों की होगी क्षति।
यह समानुपाती क्रिया बढ़ाता जाऊँ, जिससे दुष्टाष्ट कर्म नाश करूँ।।
यह मेरी संकल्पना व साधना, यह ही मेरा लक्ष्य व आराधना।
यह मेरा धर्म व कर्म पुरुषार्थ, 'सूरी कनकनन्दी' की पावन भावना।। (5)

ग.पु. कॉ. दि. 1.6.2020 रात्रि 11.06

संदर्भ

आत्मज्ञानी ही निर्वाण पाता

(आत्मा को ही अपना मानने वाला ही आत्मज्ञानी)

अप्पा अप्पउ जइ मुणहि तउ णिव्वाण लहेहि।
पर अप्पा जइ मुणहि तुहुं तहु संसार भमेहि।। (12) यो.सा.

पथ- आत्मा को ही जो आत्मा माने, वे ही निर्वाण को पाते।
पर को जो आत्मा माने है, तो तू संसार में भ्रमण करे।।

समीक्षा- स्व को ही स्व पर को ही पर मानना होते सम्यक्त्व व सही ज्ञान।
यही भेद विज्ञान या वीतराग ज्ञान, अन्यथा मिथ्यात्व व कुज्ञान।।

इस हेतु ही देव शास्त्र गुरु श्रद्धान, ध्यान अध्ययन व तप त्याग।
इससे होता आत्मा का क्रम विकास, गुणस्थान आरोहण से मिले निर्वाण।।
अन्यथा होता मिथ्या श्रद्धान ज्ञान, जिससे श्रावक साधु धर्म होता कुधर्म।
तप त्याग संयमादि होते हैं मिथ्या, जिससे संसार में होता भ्रमण।।

संदर्भ-हे अन्तरात्मन्! तुमने अनन्त दुःख के कारण मूलभूत बहिरात्मपना को त्यागकर परमात्मपना के साधकस्वरूप परम पवित्र, सर्वश्रेष्ठ, समतारूप, सत्य-अहिंसा-अपरिग्रह-ब्रह्मचर्य-रत्नत्रय दस धर्म के जीवन्त/प्रायोगिक रूप जो साधु को प्राप्त किया है उसमें मनसा-वचसा-कर्मणा एकनिष्ठ होकर समस्त कल्याण के मूलभूत आत्मकल्याण में सतत, समग्रता से प्रयत्न करो क्योंकि ये ही एक कार्य है जो कि तुमने अनन्त काल से अनन्त जन्म में भी नहीं किया हैं इसके अतिरिक्त और समस्त कार्य यथा-जन्म, मरण, भोग-उपभोग, शत्रुता, मित्रता, युद्ध-कलह, मान-अपमान, मरन-मारना, सत्ता-सम्पत्ति, प्रसिद्धि बुद्धि, वैभव, राज-पाट, अमीरी-गरीबी, रोगशोक, भय-उद्वेग, क्लेश-संक्लेश, तनाव-उदास, आदि समस्त कार्य अवस्थाओं को तुमने किया, करवाया, अनुभव किया है। इन सब कार्यों से तुमने अनन्तज दुःख भी भोगे हैं अतएव हे सुखेच्छु, संवेग-वैराग्य युक्त आत्मन्! अभी तो कम से कम एक बार भी स्वयं के लिए मरकर भी देखो कि स्वयं के लिए मरण से तुम कैसे अमृत बन जाते हो, अजर-अमर, शाश्वितक, ''सच्चिदानंद'' ''सत्यं शिवं सुंदरम्'' बन जाते हो। यथाः-अयि

कथमपि मृत्वा तत्वकौतूहली सन् अनुभव मूर्तेः पार्श्ववर्ती मुहूर्तम्। पृथगथ विलसंतं स्वं समालोक्य येन त्यजसि झगति मूर्त्या साकमेकत्वमोहम्। (अमृत कलश)

हे शान्ति के इच्छुक आत्मन् ! तत्त्व कौतुहल आदि किसी भी प्रकार से मरकर भी स्व-विज्ञानघनस्वरूप आत्म तत्त्व को मोह, माया, शोक-दुःख से मुहूर्तमात्र के लिए अलग अनुभव करो और जब ऐसा अनुभव करो तो तत्काल स्वशुद्धात्मा से भिन्न भौतिक/अनात्म/विकारभूत मोहादि को हठात् त्याग कर दो। इससे तुम निर्मल/पवित्र आनन्द घनस्वरूप हो जाओगे।

विरम किमपरेणकार्यकोलहलेन
स्वयमपि निभृतः सन पश्य षण्मासमेकम्।
हृदयसरसि पुंसः पुद्गलाभ्दिन्नधाम्नो
ननु किमनुपलब्धिर्भायाति किं चोपलब्धि।।

हे आत्मन्! संसार के अकार्य कोलाहल से विराम लो। स्वयं ही समस्त संकल्प-विकल्पों से अवकाश प्राप्त करके स्व-आत्मस्वरूप का अवलोकन/अनुभव करो। तब स्वयं को अनुभव हो जाएगा कि तुम्हारा चैतन्य शुद्ध-स्वरूप समस्त भौतिक स्वरूप से भिन्न है या नहीं ? अर्थात् निश्चय से भिन्न है।

अतएव हे आत्मन्! आत्मविश्वास, आत्मज्ञान, आत्म अनुसंधान, आत्म परीक्षण-निरीक्षण, आत्मविश्लेषण, आत्मानुचरण से ही स्वात्मोपलब्धि रूप सुख-शान्ति, संवर, निर्जरा, मोक्ष प्राप्त किया जाता है। अन्य सब धार्मिक क्रिया-काण्ड, व्रत-नियम-उपनियम, तप-त्याग, परीषह-उपसर्ग सहन, पूजा-पाठ, जप-तप, मंत्र-ध्यान आदि इसके लिए साधन/निमित्त/कारण/उपाय हैं।

हे साधकात्मन्! तुम्हारा निज आत्म वैभव अक्षय अनन्त है। वर्तमान पंचमकाल के समस्त देश-विदेश के सामान्य जन से लेकर उद्योगपति, प्रधानमंत्री, राष्ट्रपति, वैज्ञानिक, साधु-संत के वैभव सीमित हैं, क्षायोपशमिक, कर्म सापेक्ष हैं। अतएव आत्म वैभव की अपेक्षा वर्तमान के स्व-पर के वैभव अत्यन्त तुच्छ हैं/ हेय हैं, इसलिए वर्तमान के स्व- पर वैभव से न राग करो, न ईर्ष्या करो, न अहंभाव करो, न दीनभाव करो। जो कुछ तुम्हारी वर्तमान की उपलब्धि है उसका सतत सदुपयोग

निज आत्म वैभव की उपलब्धि के लिए ही करो। वर्तमान की उपलब्धि का उपयोग, ख्याति, पूजा, लाभ, प्रसिद्धि, संक्लेश-तनाव, ईर्ष्या-द्वेष, लन्द-फन्द में करके इह-परलोक में दुःखी मत हो। शास्त्रों में वर्णन पाया जाता है कि प्राचीनकाल के तीर्थंकर, गणधर आदि चार ज्ञान एवं चौसठ ऋद्धियों के स्वामी होते हुए भी उन सब का उपयोग ख्याति, पूजा, प्रसिद्धि या यहाँ तक कि उनके ऊपर उपसर्ग-परीषह करने वालों के निवारण के लिए नहीं किया क्योंकि ऐसा करने से उपलब्धि का (1) सम्यक् सदुपयोग नहीं होता (2) प्राप्त उपलब्धि में मन्दता आती है (3) आत्मोत्थ अक्षय उपलब्धि में बाधा होती है। अतः हे आत्मन्! ''वन्दे तद्गुण लब्धये'' के अनुसार तुम्हारी पंचपरमेष्ठी में जो पूजा/भक्ति/प्रार्थना तब यथार्थ होगी जब तुम उनके गुणों को स्वीकार करोगे क्योंकि गुणानुस्मरण, गुणानुवादन तथा गुणानुकरण ही यथार्थ भक्ति है, सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र है। हे आत्मन् ''आदहिदं कादव्वं यदि चेत् परहिदं कादव्वं, आदहिदं परहिदादं आदहिदं सुट्ठु कादव्वं। उत्तमा स्वात्मचिंतास्यान्मोहचिन्ता च मध्यमा, अधमा कामचिन्ता स्यात् परचिंताऽधमाधमा।।'' अर्थात् जिस प्रकार दीपक स्वयं पहले प्रकाशित होकर दूसरों को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार तुम स्वयं स्वउपकार करते हुए परोपकार करो। इसके बिना अन्य समस्त प्रपंच, ढोंग-पाखण्ड, संक्लेश त्याग करो।

सिद्धि एवं श्रेय मार्ग

कुबोध रागादि विचेष्टितैःफलं, त्वयाऽपि भूयोजननादि लक्षणम्।
प्रतीहि भव्य प्रतीलोम वर्तिभि, ध्रुवं फलं प्राप्स्यसि तद्विलक्षणनम्।।
(आत्मानुशासनम्)

हे भव्य! तूने बार-बार मिथ्यात्व, अज्ञान एवं राग द्वेषादि जनित प्रवृत्तियों से जो जन्म-मरणादि रूप फल प्राप्त किया है, उसके विरुद्ध प्रवृत्तियों सम्यग्ज्ञान एवं वैराग्य जनित आचरणों के द्वारा तू निश्चय से उसके विपरीत फल अजर-अमर पद को प्राप्त करेगा, ऐसा निश्चय कर।

दयादमत्याग समाधि संततेःपथि प्रयाहि प्रगुणं प्रयत्नवान्।
नयत्यवश्यं वचसामनगोचर, विकल्पदूरं परमं किमप्यसौ।। (10)

हे भव्य! तू प्रयत्न करके सरल भाव से दया, इन्द्रिय दमन, दान और ध्यान की परम्परा के मार्ग में प्रवृत्त हो जा। वह मार्ग निश्चय से किसी ऐसे उत्कृष्ट पद को प्राप्त कराता है जो वचन से अनिर्वचनीय एवं समस्त विकल्पों से रहित है।

दया-दम-त्याग-समाधि निष्ठं नय प्रमाण प्रकृताङ्ञ्साऽर्थम्।
अधृत्यमन्यैरखिलैः प्रवादैः, जिन! त्वदियं मतद्वितीयम्।। (6)
(युक्त्यानुशासनम्)

हे वीर जिन! आपका यह अनेकान्त रूप शासन अद्वितीय है। इसमें दया, दम, त्याग और समाधि में तपाता है। नयों एवं प्रमाणों द्वारा इसमें द्रव्य पर्याय स्वरूप जीवादिक तत्त्वों का अविरोध रूप से, सुनिश्चित असंभव बोधकरूप से निर्णय किया गया है एवं इसमें समस्त एकान्त प्रवादों दर्शन मोहनीय के उदय से सर्वथा एकान्तवादियों की कल्पित मान्यताओं द्वारा किसी भी प्रकार की बाधा नहीं आ सकती है।

हे आत्मन्! मोक्ष प्राप्ति का पूर्ण अद्वितीय मार्ग रत्नत्रय ही है। अनन्त अनंतदर्शियों ने इस मार्ग पर चलते हुए मोक्ष को प्राप्त किया है। वे अनंतज्ञान को प्राप्त करके पूर्णरूप प्रत्यक्ष से अनुभव करके रत्नत्रयात्मक मार्ग को ही यथार्थ मार्ग और इससे अतिरिक्त कुमार्ग, दुःख का मार्ग एवं संसार का मार्ग कहा है। आचार्यप्रवर समंतभद्र स्वामी ने कहा भी है :-

सदृष्टिज्ञान वृत्तानि, धर्मं धर्मेश्वरा विदुः!
यदीयप्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धति।। (3)

सद्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र ही धर्म है, मोक्ष का मार्ग है, इससे विपरीत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान एवं कुचारित्र ही कुधर्म है, दुःख का मार्ग है, संसार का मार्ग है, ऐसा धर्म के ज्ञाता धर्म के प्रभु ने बताया है। आचार्य उमास्वामी भी मोक्ष प्रतिपादक शास्त्र का प्रतिपादन करते हुए प्रथम पंक्ति में बताते हैं :-

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणिमोक्षमार्गः।। (''तत्त्वार्थ सूत्र'')

Right belief Right-knowledge, Right conduct, these (together contribute) the-path to liberation

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र इन तीनों का सम्यक् संयोग रूप त्रयात्मक मोक्ष का मार्ग है।

"Self reverence, self knowledge and self control, these three alone lead life to sovereign power".

कल्पनाएँ तो उस सच्ची लगन और प्रकृत अभिलाषाओं से है जो सदैव आपको स्मरण कराते रहते हैं कि आप अपने जीवन को ऊँचा उठाएँ, उसे महान् बनाये और उन स्वप्नों को साकार कर दें, जिनको आप अपने कल्पना लोक में देखा करते थे।

मनुष्य की उपर्युक्त आकांक्षाओं की पृष्ठभूमि में दिव्य भावनाये निहित होती हैं। कोई व्यक्ति यदि कचरा बटोरने का ही स्वप्न देखेगा, तो वह कचरा बटोरने वाला बनेगा और सदैव वैसा ही रहेगा, उससे ऊपर नहीं उठ सकता। इसीलिये मनुष्य को यह नहीं भूलना चाहिये कि उसकी अभिलाषायें, आशायें और आकांक्षायें ही उसकी दैनिक प्रार्थनायें हैं। इन प्रार्थनाओं को प्रकृति सुनती है और वह उसका यथोचित उत्तर भी देती है। यदि मनुष्य के विचार उचित दिशा में कार्य कर रहे हैं और वह अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिये निष्ठा से संघर्ष करता है, उसके प्रयत्नों में ईमानदारी है, तो कोई कारण नहीं है कि वह अपने उद्देश्य को प्राप्त न कर पाये।

हमारी हार्दिक अभिलाषायें हमारे भीतर रचनात्मक शक्ति उत्पन्न करती है। वे हमें अपने कार्य की ओर अग्रसर होने के लिये निरन्तर प्रेरणा स्रोत का कार्य करती हैं। अतः जो मनुष्य अपने आदर्श तक पहुँचना चाहता है उसको चाहिये कि वह अपनी आत्मशक्ति से निर्देश प्राप्त करता हुआ आगे बढ़े तो शीघ्र ही वह अपने लक्ष्य तक पहुँच सकता है।

शीत ऋतु में पक्षी, दक्षिण की ओर स्वाभाविक ही क्यों बढ़ने लगते हैं, क्योंकि इसकी उनको अपने अन्तस् से प्रेरणा प्राप्त होती है। तब वे स्वतः ही ठण्ड से बचने के लिए दक्षिण की ओर उड़ान भरने लग जाते हैं।

इसी प्रकार वनस्पति जगत् की भी बात है। वनस्पति जगत् में हमारे फूल हमारे फल अपनी निर्धारित ऋतु में ही फलते फूलते हैं और शीत ऋतु आने से पहले ही वह अपना उद्देश्य पूर्ण कर लेते हैं। किन्तु यदि हम देखें कि शीत ऋतु के आगमन पर भी हमारे सभी फल अधपके हैं हमारे फूल अभी तक खिले नहीं है और उनके बढ़ने की अपेक्षा पौधें मुरझाने लगे हैं तथा फल और फूल गिरने लगे हैं तो इस बात पर विचार

करना होगा कि कहीं इस सम्बन्ध में कुछ गड़बड़ अवश्य है। कहीं भूल हुई है यही स्थिति मनुष्य प्राणी की भी है। जब हम देखते हैं कि सैकड़ों करोड़ों मनुष्य अपनी आयु की पूर्णता को प्राप्त होते हैं किन्तु अनेक ऐसे भी होते हैं जो कि अपंग, अपाहिज बन जाते हैं अथवा अकाल मृत्यु के ग्रास हो जाते हैं, तो हमें समझना चाहिये कि इस विषय में भी कहीं कुछ असावधानी अथवा कुछ गड़बड़ अवश्य हुई है।

जीवन रूपी वृक्ष के नीचे जब हम इस प्रकार किसी का अधःपतन देखते हैं तो हमें सोचना पड़ता है। जबकि नर और नारी, जिनको ईश्वरीय गुण उत्तराधिकार में प्राप्त हुए हैं और जो अनन्त सम्भावनाओं से परिपूर्ण हैं, जबकि वे अपने जीवन पथ के आधे मार्ग पर ही होते हैं कि गिर जाते हैं तो हमें सोचना पड़ता है, यहाँ पर कुछ गड़बड़ है। कहीं कुछ गलती हुई है।

किन्तु हमेशा तो ऐसा नहीं होता। मनुष्य के पूर्ण आत्मविकास के लिये कभी न कभी एक उपयुक्त अवसर तो आता है। यदि ऐसी अवस्था में वह अपनी कल्पनाओं को साकार करने के लिये प्रयत्नशील होगा तो कोई कारण नहीं कि उसकी आकाँक्षायें पूर्ण न हो। उनको वह अवसर प्राप्त होगा जब उसकी सभी कल्पनायें साकार सिद्ध होंगीं। तब वह देखेगा कि उसकी परिधि प्रसन्नता से खिल उठी है, चारों ओर उल्लास ही उल्लास है। किन्तु ऐसे समय को अपने समीप लाने के लिये मनुष्य को अथक परिश्रम करना होगा। कल्पना की उड़ान भरने अथवा स्वप्न संजोने मात्र से कार्य सिद्धि सम्भव नहीं है। समय और अवसर के लिये हमें देखना होगा कि हमारे भीतर जो दुर्बलताएँ हैं वे हमारा मार्ग अवरूद्ध न कर दे, समय से पूर्व हम मुरझा न जायें। यह सब किसी पुस्तक में लिखा नहीं होता और नही इसका कोई चित्र आपको प्राप्त होगा। इसके लिये आपकी प्रेरणा ही आपका मार्गदर्शन करेगी।

यह सबको ज्ञात है कि प्रत्येक नर अथवा नारी में परिपूर्णता एवं आदर्श-व्यक्ति बनने की सामग्री विद्यमान होती है। आवश्यकता इस बात की है कि हम मानसिक रूपेण उस परिपर्ण नमूनें, परिपूर्ण आदर्श को अपने सम्पूर्ण सामर्थ्य से प्राप्त करने का प्रयत्न करें। तब वह शीघ्र ही जीवन में समाविष्ट हो जायेंगी और मनुष्य परिपूर्ण मनुष्य बन जायेगा।

जिस प्रकार वह परिपूर्ण है उसी प्रकार वह हमको भी प्रेरित करता है, मनुष्य उसका प्रतिबिम्ब नहीं उन जैसा ही बन सकता है। उसमें यह सब करने और बनने की शक्ति विद्यमान है, यह वास्तव में सत्य है। आप क्या नहीं कर सकते? (स्वेट मार्डन)

पंच भावनायें

असंक्लिश्टतपः भास्त्रः सत्त्वैकत्व धूतिश्रित।

पंचधा भावना भाव्या भवभ्रमण भीरूण।।(194) मरण कण्डिका

जो संक्लेश रहित है ऐसी ग्राह्य भावना पाँच प्रकार की है, तपो भावना, ज्ञान भावना, सत्व भावना, धृतिभावना, एकत्व भावना, संसार से भयभीत साधु को इन भावनाओं को मानना चाहिये।

(1) तपो भावना-

दांतान्यक्षाणि गच्छन्ति तपो भावनया वशम्।

विधानेनेन्द्रियाचार्यः समाधाने प्रवर्तते।।(195)

तपो भावना से दमित हुई इन्द्रियाँ वश हो जाती हैं, इस तप भावना रूप विधान के द्वारा साधु इन्द्रियाचार्य अर्थात् इन्द्रियों को शिक्षा देने वाला होता है और वह समाधान अर्थात् रत्नत्रय में प्रवृत्त हो जाता है।

इंद्रियाथ सुखासक्तःपरीषह पराजितः।

जीवोऽकृतक्रियाः क्लीबो मुह्यत्याराधनाविधै।196

जो साधु उक्त तपो भावना रहित है अर्थात् अनशन आदि तपश्चर्या नहीं करता है वह इन्द्रिय सुख में आसक्त होता है, परीषह उसे पराजित कर देती है अर्थात् वह परीषहों पर विजय नहीं पाता, करने योग्य क्रिया को नहीं कर पाता और इस प्रकार शक्तिहीन नपुंसक जैसा हुआ आराधना विधि संन्यासमरण या सम्यक्त्वादि चार आराधना करने में असमर्थ होता है।

लालितः सर्वदा सौख्यैरकारित परिक्रियः।

कार्यकारी यथा ना भवो ब्राह्यमानो रणांगणे।। (197)

जिस प्रकार सदा जिसको सुखों में लालित किया है सवारी आदि परिक्रिया जिससे नहीं करायी है ऐसा अश्व युद्ध स्थल में कार्य में लगाने पर भी अपने कार्य करने में समर्थ नहीं होता।

अकारित पो योग्यश्चिरं विशय मूर्च्छितः।

न जीवो मृत्युकालेऽस्ति परीषहसहस्तथा।।(198)

उसी प्रकार जो विषयों में मूर्च्छित है, योग्य तप को चिरकाल तक जिसने नहीं किया वह यति मरण काल में परीषह वेदना आदि सहने में समर्थ नहीं हो सकता।

विद्यापितः क्रियां योग्यां सर्वदा दुःख वासितः।

बाह्यमानो यथा बाजी कार्यकारी रणक्षितौ।।(199)

जिस प्रकार अश्व द्वारा पहले कूदना, इशारे पर चलना, शीत आदि सहना इत्यादि कार्यों को कराया गया है सदा दुःखों से वासित किया है ऐसे अश्व को रणभूमि में ले जाने पर वह स्वामी के इशारे पर चल कर युद्ध में कार्यकारी होता है।

विधापितस्तपो योग्यं ह्यशीकार्थ परांमुखः।

जायते मृत्यु कालेंऽगी परीषह सहस्तथा।।(200)

उसी प्रकार इन्द्रियों के विषय से जो विरक्त है, अनशन आदि योग्य तप जिसने पूर्व काल में भली प्रकार कर लिया है वह साधु मरण काल में परीषह सहने में समर्थ होता है।

(2) ज्ञान भावना-

चतुरंग परिणाम श्रुत भावनया परः।

निर्व्याक्षेपः प्रतिज्ञातं स्वं निर्वाहयते ततः।।(201)

श्रुत भावना अर्थात् भली प्रकार से शास्त्रों का अध्ययन जिसने कर लिया वह अपनी श्रुत भावना द्वारा चतुरंग परिणाम सम्यक्त्व आदि चार आराधना में उपयुक्त होता है। निर्व्याक्षेप अर्थात् विक्षेप, विकल्प या आकुलता रहित होकर अपने प्रतिज्ञात नियम को अच्छी तरह निभाता है।

स्वन्यस्तजिनवाक्यस्यरचितो चित्त कर्मणः।

परीषहापदः शक्त न कर्त्तु स्मृतिलोपनम्।।(202)

जिसने जिनेन्द्र प्रभु के वाक्य अर्थात् आगमार्थ में अपने को लगाया है, पठन, मनन आदि उचित क्रिया में जो तत्पर हैं ऐसे साधु के मरण काल में वेदना के समय भी परीषह उपसर्ग आदि स्मरण का नाश नहीं कर पाते। अर्थात् भली प्रकार शास्त्र ज्ञान में लगे रहने से वह ज्ञान सदा जागृत रहता है मरण की वेदना से भी वह विस्मृत नहीं

होता। अथवा शास्त्राभ्यासी साधु के स्मृति का नाश नहीं होता। इस प्रकार ज्ञान या श्रुत भावना का फल जानकर सदा ज्ञान में भावना करनी चाहिये।

(3) सत्त्व भावना-

भीश्यमाणोऽप्यहोरात्रं भीमरूपैः सुरासुरैः।
सत्व भावनाया साधुं धुरि धारयतेऽखिलम्।।(203)

भयंकर रूप वाले देव और असुरों द्वारा दिन रात डराने पर भी साधु सत्त्व भावना से अखिल संयम धुरा को धारण कर लेते हैं।

विमुह्यत्युपसर्गे नो सत्व भावनया यतिः।
युद्ध भावनया युद्धे भीषणेऽपि भटो यथा।(204)

सत्त्व भावना के बल से साधु उपसर्ग के समय मोहित नहीं होता अर्थात् उपसर्ग पर विजय पाता है। जैसे कि जिसने युद्ध का अभ्यास कर लिया है ऐसा सुभट उस युद्ध भावना के बल से भीषण युद्ध में भी डरता नहीं, विजय पाता है।

(4) एकत्व भावना-

कामे भोगे गणे देहे विवृद्धैकत्वभावनः।
करोति निःस्पृहीभूय साधुर्धर्ममनुत्तरम्।।(205)

काम में, भोग में, समूह में और शरीर में जिसने एकत्व की भावना को बढ़ाया है अर्थात् ये काम भोग आदि मुझ से भिन्न हैं, मैं सर्वथा एकला हूँ इत्यादि रूप एकत्र भावना युक्त जो साधु है वह निस्पृह होकर उत्कृष्ट धर्म को करता है।

स्वसू विधर्मतां दृष्ट्वा जिनकल्पीव संयतः।
एकत्वभावनाभ्यासो न मुह्यति कदाचन।।(206)

जिनकल्पी नागदत्त नाम के मुनिराज अपनी बहिन के साथ अनेक अत्याचार होते हुए देखकर भी एकत्व भावना का अभ्यास होने से मोहित नहीं हुए उन मुनिराज के समान ही एकत्व भावना वाले साधु किसी भी पदार्थ में मोह को प्राप्त नहीं होते है।

(5) धृति भावना-

उपसर्ग महायोधां परीषहचमूं परां।
कुर्वाणामल्पसत्वानां दुर्निवाररयां भयम्।।(207)

धीरतासेनया धीरो विवेकशर जालया।
जायते योधयन्नाशु साधुः पूर्ण मनोरथ।।(208)
विधाय विधिना दृष्टिज्ञान चारित्रशोधनम्।
चिरं विहरतां शष्ट्यां यति भावनयाऽनया।।(209)

उपसर्ग रूपी महान् योद्धा जिसमें है ऐसी परीषह रूपी दुर्वार वेग वाली बड़ी भारी सेना जो अल्पशक्ति वाले जीवों को भय उत्पन्न करती है, उसका धीर, वीर साधु अपनी धृति भावना रूपी सेना द्वारा जो कि विवेक बाण समूह से पूर्ण है, उसके द्वारा युद्ध करके शीघ्र ही पूर्ण मनोरथ होता है अर्थात् परीषह आदि पर विजय प्राप्त कर लेता है। साधु इस धृति भावना द्वारा विधिपूर्वक दर्शन ज्ञान और चारित्र का शोधन करके चिरकाल तक विहार करें। कांदर्पी आदि अशुभ पाँच भावनाओं का त्याग करके छठी तपो भावना आदि रूप भावना द्वारा रत्नत्रय का शोधन करें।

नागदत्त नाम के एक राजपुत्र थे, वैराग्य युक्त होकर उन्होंने जैनेश्वरी दीक्षा ली और घोर तपश्चरण करते हुए जिनकल्पी मुनिराज बने। एक समय वे वन में ध्यान के लिये प्रविष्ट हुए। उस स्थान पर डाकुओं का अड्डा था,डाकुओं ने समझा कि यह व्यक्ति हमारा भेद पथिकों को बताएगा ऐसा मानकर वे डाकू उन्हें त्रास देने के लिये उद्यत हुए किन्तु मुनिराज के स्वरूप को जानने वाले डाकुओं के सरदार ने त्रास देने से रोक दिया और कहा कि ये सब संसार माया से दूर है, इन्हें किसी से ममत्व नहीं है। मुनिराज कुछ काल तक वहीं ठहर गये। एक दिन उन नागदत्त मुनिराज कि माता जो कि नगर के राजा की प्रमुख रानी थी और अपनी कन्या को तथा योग्य वैभव एवं परिकर को लेकर दूसरे देश में जा रही थी, उसी वन में पहुँची। वह मुनिराज के दर्शन कर प्रश्न करती है कि हे साधो! आप यहाँ वन में निवास करते हो, मुझे बताइये कि इस वन में कुछ भय तो नहीं है? मेरे साथ युवती कन्या अर्थात् आपकी बहिन है और वैभव है। एकत्व भावना से वासित है मन जिनका ऐसे वे श्रेष्ठ यति मौनस्थ रहे उत्तर नहीं दिया, जबकि वे जानते थे कि यहाँ चोरों का भय है। रानी वन में आगे गमन कर जाती है और बीच में डाकुओं द्वारा पकड़ी जाती है। डाकू समस्त माल तथा रानी और सुन्दर नव-यौवना राजकन्या को अपने सरदार के निकट ले जाते हैं। सरदार

खुश होकर कहता है कि देखो मैंने पहले कहा था कि मुनिराज किसी को कुछ नहीं बताते हैं। इस वाक्य को सुनकर रानी अत्यन्त कुपित होकर कहती है कि- हे सरदार! मुझे छुरी दो, जिस उदर में मैंने उस पापी मुनि को नौ मास रखा उसको चीर डालती हूँ उसने मेरे उदर को अपवित्र किया है इत्यादि। इस वाक्य को सुनकर सरदार को ज्ञात होता है कि यह मुनिराज की माता है और यह सुन्दर कन्या बहिन है। मुनिराज के इतने विशिष्ट निस्पृह भाव को ज्ञातकर सरदार एकदम विरक्ति को प्राप्त होता है और गद्गद वाणी से कहता है कि हे माता! तुम धन्य हो तुम तो जगत्माता हो तुम्हारी कुक्षि धन्य है। यह कदापि अपवित्र नहीं, जिससे ऐसे महान् वैरागी आत्मा ने जन्म लिया। इत्यादि वाक्य से रानी को सांत्वना देकर रानी को अपनी माता और कन्या को बहन सदृश आदर करके सम्पूर्ण वैभव के साथ उनके इष्ट देश में पहुँचा देता है, तथा स्वयं सर्व चौर्य आदि पापों का त्याग करता है।

सार्थक नाम युक्त परमात्मा

(अनन्त गुणात्मक नाम वाले परमात्मा)

(चालः- आत्मशक्ति.... **- आचार्य कनकनन्दी**

आत्मा में है अनन्त गुण अन्वयार्थ सार्थक।
यथा नाम तथा गुण, नहीं स्थापना निक्षेप।।
अनन्त गुणों को केवल जान सकते सर्वज्ञ।
नहीं कह सकते हैं पूर्णतः सर्वज्ञ/(गणेश) तक।।(1)

'सर्वज्ञ' यथा जो जानते सम्पूर्ण सत्य।
'अरिहन्त' होते हैं घाती कर्म (अरि) नाशक।।
'सिद्ध' होते हैं सर्वार्थसिद्ध सर्वस्वकृतकृत्य (घाती अघाती नाशक)
अनन्त होते हैं अनन्त गुण गण धारक।। (2)

'स्व पर प्रकाशक' जो स्वज्ञाता व परज्ञाता।
''अव्याबाध'' होते सभी बाधा रहित।।
'अव्यय' होते हैं जो व्यय से रहित
'अच्युत' नाम है जो स्वगुण से न च्युत।।(3)

'निरंजन' नाम जो अंजन (कलंक) से रहित
'निराकार' नाम है जो आकार से रहित।।
'ईश्वर' नाम जो आत्म-ऐश्वर्य युक्त
'परमात्मा' नाम जो परमस्वरूप में स्थित।। (4)

'स्वयम्भू' होते जो स्वयं से उत्पन्न।
सनातन नाम जो सदा ही विद्यमान।।
परंज्योति होते जो आत्मज्योति सहित।
जगज्ज्योति होते हैं जो जगत् प्रकाशक (5)

'बुद्ध' नाम सार्थक जो अनन्त बोध सहित।
'शिव' नाम अन्वयार्थक जो सदा शाश्वत।।
'ब्रह्म' नाम सार्थक जो अनन्त गुणों में व्याप्त
'प्रभु' नाम सार्थक जो प्रभुत्व गुण युक्त।। (6)

'वीतरागी' राग द्वेष मोह से रहित।
'सच्चिदानन्द' सत्-चित्-आनन्द सहित।।
'ज्ञायक स्वभावी' केवल ज्ञाता दृष्टा होने से
'स्वरूप स्थित' है विभाव परभाव रिक्त से।। (7)

तथाहि नित्यानन्द, परमानन्द, सहजानन्द।
जगज्ज्येष्ठ, जगन्नाथ, विभु, परमेश।।
कृतकृत्य, निष्काम, परम विष्णु स्वरूप।
परमतत्त्वज्ञान व निज आत्मोपलब्धि स्वरूप।।(8)
'परमेष्ठी' होते जो परमपद में स्थित।
'श्रीमान्' नाम है जो आत्मलक्ष्मी सहित।।
सर्वदर्शी जो सभी के होते दर्शक
'वन्देतद्गुण लब्धये लक्ष्य युक्त 'सूरी कनक'।।(9)

ग.पु. कॉ. दि. 2.6.2020 रात्रि 9.44 व 11.08

संदर्भ-

प्रार्थना

श्रीमत्यपरमगंभीर स्याद्वादमोघलाञ्छनम्।

जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य, शासनं जिनशासनम्।।(3)।।

जो अनेक अंतरंग और बहिरंग लक्ष्मियों से भरपूर है और अत्यन्त गम्भीर स्याद्वाद ही जिसका सार्थक चिह्न है, ऐसे श्री त्रैलोक्यनाथ का शासन श्री जैन शासन चिरकाल तक जीवित रहो।

नमोनमः सत्वहितंकराय, वीराय भव्याम्बुजभास्कराय।

अनन्तलोकाय सुरार्चिताय, देवाधिदेवाय नमो जिनाय।।(7)।।

जो भगवान् वर्द्धमान स्वामी समस्त प्राणियों का भला करने वाले हैं भव्य रूपी कमलों को सूर्य के समान प्रफुल्लित करने वाले हैं, अनंत लोक, अलोक को देखने वाले हैं, देवों के द्वारा पूज्य हैं और देवों के भी परम देव हैं, ऐसे अरहंत देव महावीर स्वामी के लिए मैं बारम्बार नमस्कार करता हूँ।

नमो जिनाय त्रिदशार्चिताय, विनष्टदोषाय गुणार्णवाय।

विमुक्तिमार्ग प्रतिबोधनाय, देवाधिदेवाय नमो जिनाय।।(8)।।

जो भगवान् अरहंत देवों के द्वारा पूज्य है, क्षुधा, तृषा आदि अठारह दोषों से रहित हैं, अनंत गुणों के समुद्र हैं, मोक्षमार्ग का उपदेश देने वाले हैं और देवाधिदेव श्री जिनेन्द्रदेव हैं ऐसे अरहंत देव के लिए मैं बारम्बार नमस्कार करता हूँ।

देवाधिदेव! परमेश्वर! वीतराग!

सर्वज्ञ! तीर्थंकर! सिद्ध! महानुभाव!

त्रैलोक्यनाथ! जिनपुंगव! वर्धमान!

स्वामिन्! गतोऽस्मि शरणं चरणद्वयं ते।।(9)।।

हे देवाधिदेव! हे परमेश्वर! हे वीतराग! हे सर्वज्ञ! हे तीर्थकर! हे सिद्ध! हे महानुभाव! हे तीनों लोकों के नाथ! हे जिनेन्द्र देव श्री वर्द्धमान स्वामिन् मैं आपके दोनों चरण कमलों की शरण को प्राप्त होता हूँ।

जितमदहर्षद्वेषा, जितमोहपरीषहा, जितकषायाः।

जितजन्ममरणरोगा, जितमात्सर्या, जयन्तु जिनाः।।(10)।।

मद, हर्ष-द्वेष को जीतने वाले मोह और परीषहों को जीतने वाले कषायों को जीतने वाले और मत्सरता को जीतने वाले, भगवान् जिनेन्द्र देव सदा जयशील हों।

जयतु जिन! वर्द्धमानस्त्रिभुवनहितधर्मचक्रनीरजबंधुः।
त्रिदशपतिमुकुटभासुर, चूड़ामणिरश्मिरंजितारुणचरणः।।(11)।।

जो श्री वर्द्धमान स्वामी तीनों लोकों का हित करने वाले, धर्मचक्ररूपी कमलों के लिए सूर्य के समान हैं और जिनके अरुण (लाल रंग के) चरण कमल इन्द्र के मुकुट में दैदीप्यमान चूड़ामणि रत्न की किरणों से और भी सुशोभित हो रहे हैं, ऐसे श्री वर्द्धमान स्वामी सदा जयशील हों।

जय, जय, जय! त्रैलोक्यकाण्ड शोभि शिखामणे,
नुद,नुद, नुद, स्वान्तध्वान्तं जगत्कमलार्क! नः।
नय, नय, नय, स्वामिन्! शांतिं, नितान्तमनन्तिमां,
नहि, नहि, नहि त्राता लोकैकमित्र! भवत्परः।।(12)।।

हे भगवन्! आप तीनों लोकों में अत्यन्त सुशोभित होने वाले शिखामणि के समान है। इसलिए आपकी जय हो, जय हो, जय हो! हे प्रभु! आप जगत् रूपी कमल को प्रकाशित करने के लिए सूर्य के समान हैं। इसलिये मेरे हृदय के मोहान्धकार को दूर कीजिये! दूर कीजिये! हे स्वामिन्! कभी भी न नाश होने वाली अत्यन्त शांति दीजिये, दीजिये, दीजिये। हे भव्य जीवों के अद्वितीय मित्र आपके सिवाय मेरी रक्षा करने वाला संसार के दुःखों से बचाने वाला अन्य कोई नहीं है, नहीं है, नहीं है। वही एक देश में प्रकटतारुप विवक्षित एक शुद्ध-निश्चयनय से निज-शुद्ध-आत्मानुभव से उत्पन्न सुख रूपी अमृत-जल के सरोवर में राग आदि मलों से रहित होने के कारण परमहंस स्वरूप है। परमात्मा ध्यान के भावना की नाममाला में इस एक देश व्यक्ति रूप शुद्ध नय के व्याख्यान को यथासंभव सब जगह लगा देना चाहिये। ये नाम एकदेश शुद्ध निश्चयनय से अपेक्षित हैं।

वही परब्रह्म स्वरूप है, वही परमविष्णुरूप है, वही परमशिवरूप है, वही परमबुद्धस्वरूप है, वही परमजिनस्वरूप है, वही परम निज-आत्मोपलब्धिरूप सिद्धस्वरूप है, वही निरंजनस्वरूप है, वही शुद्धात्मदर्शन है, वही परम अवस्था स्वरूप है, वही परमात्मा-दर्शन है, वही ध्यान करने योग्य शुद्धपारिणामिक भावरूप

है, वही ध्यान भावनारूप है, वही शुद्ध चारित्र है, वही परम पवित्र है, वही अंतरंग तत्त्व है, वही परम तत्त्व है, वही शुद्ध आत्म द्रव्य है, वही परम ज्योति है, वही शुद्ध वही निर्मल स्वरूप है, वही स्व सम्वेदन ज्ञान है, वही परमतत्त्वज्ञान है, आत्मानुभूति है, वही आत्मा की प्रतीति है, वही आत्म-संवित्ति आत्म-संवेदन है, वही निज आत्मस्वरूप की प्राप्ति है, वही नित्य पदार्थ की प्राप्ति है, वही परम-समाधि है, वही परम-आनंद है, वही नित्य आनंद है, वही स्वाभाविक आनंद है, वही सदानंद है, वही शुद्ध आत्म पदार्थ के अध्ययन रूप है, वही परम स्वाध्याय है, वही निश्चय मोक्ष का उपाय है, वही एकाग्र चिंता निरोध है वही परमज्ञान है, वही शुद्ध उपयोग है, वह ही परम-योग समाधि है, वही भूतार्थ है, वही परमार्थ है, वही निश्चय ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप-वीर्यरूप निश्चय पंचाचार है, वही समयसार है, वह ही अध्यात्मसार है, वही समता आदि निश्चय षट् आवश्यक स्वरूप है, वह ही अभेद रत्नत्रय स्वरूप है वही वीतराग सामायिक है, वह ही परमशरणरूप उत्तम मंगल है, वही केवल ज्ञानोत्पत्ति का कारण है, वही समस्त कर्मों के क्षय का कारण है, वही निश्चय दर्शन, ज्ञान, चारित्र तप, आराधना स्वरूप है, वही परमात्मा भावनारूप है, वही परम अद्वैत है, वही अमृतस्वरूप परमधर्मध्यान है, वही शुक्लध्यान है, वही राग आदि विकल्प रहित ध्यान है, वही निष्कल ध्यान है, वही परम स्वास्थ्य है, वही परम वीतरागता है, वही परम-समता है, वही परम एकत्व है, वही परम भेदज्ञान है, वही परम समरसी भाव है, इत्यादि समस्त रागादि विकल्प-उपाधि रहित, परम आह्लाद एक-सुख लक्षणमयी ध्यान स्वरूप निश्चय मोक्षमार्ग को कहने वाले अन्य बहुत से पर्यायवाची नाम परमात्म तत्त्व ज्ञानियों के द्वारा जानने योग्य होते हैं।

त्वामाव्ययं विभुमचिन्त्यमसंख्यमाद्यं ब्रह्माणमीश्वरमनन्तमनङ्ग- केतुम्।
योगीश्वरं विदित-योगमनेकमेकं ज्ञान-स्वरूपममलं प्रवदन्ति सन्तः।।

(24)(भक्ता)।।

भावार्थ- संसारी सुख से परम उदासीन, कर्मों की सर्वथा निर्जरा के लिए आतुर त्यागी, तपस्वी मुनि कहे जाते हैं। उन्हें ही आप रूपी सूर्य के प्रकाश का दिव्यत्व दिखाई देता है और वे ही वर्तमान में राग पर्याय हेतु हुये भी वस्तु स्वरूप देख पाते हैं। आपके प्रकाश में उन्हें संसार एक महान् वृक्ष के रूप में दिखाई देता है। उस वृक्ष में अनन्त फल

दिखाई देते हैं। वे फल अपना-अपना रूप प्रति समय सूक्ष्म रीति में (चारों गतियों के रूप में) बदलते रहते हैं। उनका सूक्ष्म रीति से स्थूल परिवर्तन दीखता है। तब सूक्ष्मता की श्रद्धा स्वयमेव हो जाती है। वे फल लाखों (84 लाख योगियाँ) प्रकार के हैं। प्रथम उन्हें मुख्यतया चार प्रकार के दिखाई देते हैं। प्रथम प्रकार से सारा वृक्ष भरा पड़ा है। कुछ तो (निगोदिया जीव) कुछ ही काल में मुरझाकर और पुनः विकसित होते हैं। उनकी स्थिति का पता ही नहीं लगता। कुछ जीव स्थूल ही से मालूम होते हैं। कुछ के अंकूर होते हैं। ऐसे तीन, चार, पाँच अंकूरो (इन्द्रियों) वाले फल पाये जाते हैं। यह फल आपस में टकरा-टकरा कर गिर जाते हैं। दूसरे प्रकार के फल नीचे लटके रहते हैं। ये उपरोक्त फलों के अनंतवें भाग भी नहीं हैं। ये आपस में टकराते रहते हैं। इनका (नरकगति के जीवों का) अंग छिन्न-भिन्न होता है। दूसरे, तीसरे प्रकार के फलों की स्थिति अधिक है। चौथे प्रकार के फल (मनुष्यगति के जीव) अत्यन्त अल्प है। यह बड़े ही विचित्र है। यह पहले प्रकार के फलों का उपभोग करते हैं। ऊँचे-नीचे हो तो लेने का प्रयत्न करते हैं। उन्हें छिन्न-भिन्न कर देते हैं।

गुरुदेव, कहते हैं कि संत जन आपका अक्षय, अनंत, विभूतियुक्त, अचिन्त्य, असंख्य, गुणी, आदिनाथ, ब्रह्मा, ईश्वर, अनंत, अनंगकेतु, योगीश्वर, योगी; एक अनेक रूप ज्ञानस्वरूप, अमल आदि अनेक नामों से चिन्तवन करते हैं।।24।।

बुद्धस्त्वमेव विबुधार्चित-बुद्धि-बोधात्
त्वं शङ्करोऽसि भुवन-त्रय-शङ्करत्वात्।
धातासि धीर शिव-मार्ग विधेर्विधानाद्
व्यक्तं त्वमेव भगवन्पुरुषोत्तमोऽसि।।25।।

मोक्षमार्ग के आद्य प्रवर्त्तक, अतः विधाता कहे गणेश।
तुम सम अवनी पर पुरुषोत्तम और कौन होगा अखिलेश।।(25)।।

श्री नथमलजी-

विबुध पूज्य तुम बोध बुद्धि तातैं तुम स्वामी।
त्रिभुवन के कल्याण करण तैं शिव तुम नामी।।
शिव मारग उपदेश करन तैं तुम हो धाता।
पुरुषोत्तम परधान प्रगट तुम ही जगत्राता।।(25)।।

तुभ्यं नमस्त्रिभुवनार्तिहराय नाथ तुभ्यं नमः क्षिति-तलामल-भूषणाय।
तुभ्यं नमस्त्रिजगतः परमेश्वराय तुभ्यं नमो जिन भवोदधि-शोषणाय।।26।।

नमों तोहि जिनराज ईश त्रिभुवन प्यारे।
नमों तोहि जिनराज उदधि भव शोषण हारे।।26।।

गुरुदेव कहते हैं कि त्रिलोक के दुःख हरण कर्त्ता आपको नमस्कार हो। हे तीन लोक के आभूषण स्वरूप आपको नमस्कार हो। हे त्रिलोकीनाथ आपको नमस्कार हो। हे संसार समुद्र के शोषक आपको नमस्कार हो।।(26)।।

को विस्मयोऽत्र यदि नाम गुणैरशेषै स्त्वं संश्रितो निरवकाशतया मुनीश।
दोषैरुपात्तविविधाश्रय-जात-गर्वैः स्वप्नान्तरेऽपि न कदाचिदपीक्षितोऽसि।।
(27)।।

श्री विपिन जारोली जी -
गुण जतरा भी दुनिया में है भर्या ठसाठस थांरा में वी।
जगा कठै जो अवगुण आवे करे हैंकडी दूरां रे व्ही।।(27)।।
श्री शोभाराम जी-
मुनि के समूह तुम्ही सों आश्रित-
भयो है तोउ अचिरज को कहै।।
ते गुणा अपार विद्यमान है सघन रूप।
विन अवकास यो बिराजित अशोक है।।
रागादिक भाव सों भयो है नाना भाँति गर्व।
हरिहर आदि अन्य देवनि को थोक है।।

(परम शान्ति प्राप्ति के हेतु परम शान्ति प्राप्ति चालीसा)

(चालः- 1. जय हनुमान....2. तू ही दाता....) **- आचार्य कनकनन्दी**

शान्ति मिले शान्ति मिले, सत्य-समता से शान्ति मिले।
शान्ति मिले शान्ति मिले, क्षमा-मृदुता से शान्ति मिले।।
ज्ञान-ध्यान से शान्ति मिले, श्रद्धा-प्रज्ञा से शान्ति मिले।
दया-दान से शान्ति मिले, महान्-लक्ष्य से शान्ति मिले।

संयम-तप से शान्ति मिले, सरल-सहज से शान्ति मिले।
शौच-धैर्य से शान्ति मिले, सेवा-सम्मान से शान्ति मिले।
गुण-ग्रहण से शान्ति मिले, मैत्री-प्रमोद से शान्ति मिले।
शुभ-ग्रहण से शान्ति मिले, शोध-बोध से शान्ति मिले।
निस्पृह-सौम्य से शान्ति मिले, निन्दा-रिक्त से शान्ति मिले।
निर्भय-निःशंक से शान्ति मिले, एकाग्र मन से शान्ति मिले।
चिन्तन-मनन से शान्ति मिले, वात्सल्य भाव से शान्ति मिले।
विनय भाव से शान्ति मिले, निर्द्वन्द्व भाव से शान्ति मिले।
निश्चल भाव से शान्ति मिले, निःछल भाव से शान्ति मिले।
स्वस्थ्य भाव से शान्ति मिले, एकान्त मौन से शान्ति मिले।
आत्मविश्वास से शान्ति मिले, आत्मज्ञान से शान्ति मिले।
सदाचरण से शान्ति मिले, परहित चिन्तन से शान्ति मिले।
परोपकार से शान्ति मिले, त्यागभाव से शान्ति मिले।
आत्मशुद्धि से शान्ति मिले, आत्मचिन्तन से शान्ति मिले।
शान्ति न मिले विभाव से, शान्ति न मिले पर भाव से।
शान्ति आत्मा की निजपरिणति, शान्ति न पर की परिणति।।
जन धन मान में/(से) भी नहीं शान्ति, ख्याति पूजा लाभ में/(से) नहीं शान्ति।
शान्ति न भोगोपभोग में/(से) होती, शान्ति भौतिक वैभव से न मिलती।।
शान्ति न फैशन-व्यसनों में/(से) होती, शान्ति न पर पीड़न से आती।
शान्ति आत्मा की शुद्ध परिणति, संकल्प-विकल्प से शान्ति नष्ट होती।।
आकर्षण-विकर्षण से शान्ति नाश होती, राग द्वेष मोह से शान्ति नाश होती।
ईर्ष्या तृष्णा घृणा से शान्ति नष्ट होती, परनिन्दा परहानि से शान्ति विनशति।।
सन्तोष सहयोग से शान्ति प्राप्त होती, वैर विरोध से शान्ति नहीं मिलती।
स्वदोष शान्ति से शान्ति प्राप्ति होती, स्वदोष नाश हेतु 'कनक' करे प्रवृत्ति।।
शुद्ध बुद्ध आनन्द में है परमशक्ति, परमात्मादशा में है परमशान्ति।
इस हेतु चक्री भी बनते है निस्पृहयति, चक्रवर्ती अवस्था में नहीं परमशान्ति।।
आत्मचिन्तन हेतु यह चालीसा, आत्मशुद्धि से परमशान्ति हेतु।
आत्मविश्लेषण आत्म विकास हेतु, शुद्ध बुद्ध आनन्द प्राप्ति हेतु।।

इस (चालीसा) अनुसार जो भावना भाये, करे कराये व अनुमोदना करे।
उसे भी मिलेगी आत्मिक शान्ति, जो मंत्र यंत्र तंत्र धन से न मिले।।
ग.पु. कॉ. 21.5.2020 रात्रि 12.01

रहस्यों के रहस्य उद्घाटक

धर्म-दर्शन-विज्ञान-गणित-आरोग्य सम्बन्धी शोधपूर्ण कविता

(सर्वज्ञ ही जानते हैं विश्व के सम्पूर्ण रहस्य शेष अनन्त जीव भी न जान सकते हैं सम्पूर्ण रहस्य!)

(चालः- 1. आत्मशक्ति....2. क्या मिलिए....) - आचार्य कनकनन्दी

अनादि अनन्त शाश्वतिक विश्व में ज्ञान-ज्ञेय भी अनन्त।
षट्द्रव्य, सप्त तत्त्व, नव पदार्थ के गुण-पर्याय भी अनन्तानन्त।।
इसलिए विश्व के समस्त रहस्यों को केवल जान सकते हैं सर्वज्ञ।
सर्वज्ञ के अतिरिक्त सम्पूर्ण विश्व के सम्पूर्ण जीव भी नहीं जान सकते पूर्ण ज्ञेय।।(1)

सर्वज्ञ में होता है अनन्तानन्त ज्ञान समस्त ज्ञेय से भी अनन्त।
सर्वज्ञ के ज्ञानकोण में समस्त विश्व के समस्त ज्ञेय अवस्थित /(लीन)।।
यदि होते अनन्तानन्त विश्व भी उसे जान सकते हैं सर्वज्ञ।
सर्वज्ञ का स्वभाव ही है सम्पूर्ण ज्ञेय को एक साथ जानने में समर्थ।। (2)

ज्ञान-ज्ञेय सम्बन्ध यह है ज्ञेय, ज्ञेय है तो ज्ञान जानेगा अवश्य।
अन्यथा ज्ञान न होगा सर्वज्ञ अतएव सर्वज्ञ से अज्ञात न ज्ञेय।।
सर्वज्ञ द्वारा ज्ञात ज्ञेय को सर्वज्ञ भी न कह पाते लाखों वर्ष में।
सात सौ अठारह भाषा में खिरती दिव्यध्वनि एक दिन में तीन-तीन बार भी।। (3)

चारज्ञान के धारी गणधर तक समझ पाते हैं उसका अनन्तवाँ भाग।
लिपिबद्ध करते उससे भी कम उसे ही कहते हैं आगम निबद्ध।।
ऐसा है अनन्तज्ञान-अनन्त ज्ञेय इसे न समझ सकते पूर्णतः असर्वज्ञ।
अनन्त भी असर्वज्ञ मानव, देव, दार्शनिक, वैज्ञानिक द्वारा भी न ज्ञेय।। (4)

एक ही संसारी जीव के जितने हैं कर्म नोकर्म भावकर्म विद्यमान।
उसे भी न जान सकते पूर्णतः अनन्त सर्वज्ञ देव मानव दार्शनिक वैज्ञानिक।।

अभी तक एक शुद्ध परमाणु तक को नहीं जान पाए हैं लाखों वैज्ञानिक।
ऐसा ही सूक्ष्म निगोदिया से ले कोरोना वायरस को न जानते वैज्ञानिक तक।।
तथाहि ब्रह्माण्ड उत्पत्ति से ले जीव उत्पत्ति व उनके गुण-पर्यायों को।
डार्क मैटर डार्क एनर्जी से ले ग्रेविटी व विश्व के सभी आयाम-शक्तियों का।।
एक ही मानव के शरीर के सभी परमाणु व उसके गुण-पर्यायों को।
तथाहि शारीरिक-मानसिक सभी रोग व कारण व उनके उपचारों को।।(6)
एक ही मानव के सर्व भाव-व्यवहार जो सही या गलत होते हैं।
उसके कार्य-कारण सम्बन्ध व उसके समग्र उपचार उपायों को भी।।
जन्म-मरण व सुख-दुःख आधि-व्याधि-उपाधि व स्वप्न-शकुन।
जन्म के पूर्व व जन्म के अनन्तर जीवों की स्थिति व उनके कारण।। (7)
न जान पा रहे हैं इन्द्रिय व मन से तथाहि वैज्ञानिक यन्त्रों से।
स्वयं को भी न जान पाते पूर्णतः तन-मन-इन्द्रिय व आत्मदृष्टि से।।
इसीलिए तो तीन ज्ञान धारीचक्री तक राज्य त्याग करते शोध-बोध।
ध्यान-अध्ययन व तप-त्याग से मौन एकान्त में करते सतत अनुसन्धान।।(8)
आत्मशुद्धि द्वारा बढ़ाते वे आत्मिक गुण शक्ति जिससे वे नाश करते घाती कर्म।
जिससे वे पाते अनन्त ज्ञान दर्श सुख वीर्य जिससे वे बनते सर्वज्ञ भगवान्।।
ऐसे सर्वज्ञ भगवान् ही जानते हैं विश्व के समस्त रहस्य एक साथ पूर्णतः।
ऐसी अवस्था के अनन्तर वे देते उपदेश परम सत्य को पूर्णतः।। (9)
शेष अघाती नाश से वे बनते शुद्ध बुद्ध परमात्मा अनन्त काल पर्यन्त।
पुनः वे न करते जन्म-मरण यह भी न जानते वैज्ञानिक तक।।
इस हेतु ही धर्म है, अतः धर्म है सर्व सुखाकर व सर्व अहितहर।
अन्यथा धर्म कुधर्म है सर्वज्ञ बनने हेतु 'कनक' साधना करे निरन्तर।।(10)
ग.पु.कॉ., दि. 5.5.2020, मध्याह्न 3.06

निर्भय निर्द्वन्द, निश्चल आत्मा

(चालः- (1) भातुकली....2. तुम दिल की धड़कन....) - आचार्य कनकनन्दी
निःशंक हो! निःकांक्ष हो! निराबाध तू निर्भय हो।
तू सत्य हो! तू शिव हो! मंगलमय शुद्ध बुद्ध हो।।

ये सब तेरे गुणधर्म, तेरे से ये अभिन्न अछिन्न है।
इसे प्राप्त करने हेतु तू, संसार शरीर भोग से विरक्त हो।। (1)
संवेग वैराग्य युक्त हो, संसार भ्रमण से विरक्त हो।
इस हेतु पापों से भयभीत हो, किन्तु सप्तभयों से विरक्त हो।।
इहलोक, परलोक, अत्राणभय अगुप्ति भय से मुक्त हो।
मरण भय व वेदना भय से मुक्त हो अकस्मात् भय से।। (2)
इहलोक न तेरा स्वभाव यह कर्म जनित अशुद्ध दशा।
यह तो अवश्य ही नशेगा, नाशवान् से क्यों भयभीत हो।।
परलोक तो तेरा कर्माधीन, कर्मानुसार मिलेगा अवश्य।
सत्कर्म तू करो नवकोटि से, भय करने से न कोई लाभ।। (3)
तू तो स्वयं में स्वयंपूर्ण हो, इसे प्राप्त करना तेरा धर्म है।
तेरा रक्षक सम्वर्द्धक तू ही, अत्राण भय से तू मुक्त हो।।
स्वगुण पर्याय से तू युक्त, उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्त हो।
अगुरुलघुगुण से सुरक्षित, अगुप्ति भय से (तू) मुक्त हो।। (4)
तू तो अजर अमर अमृत, तन मन से भी रहित हो।
जन्म जरा मृत्यु रहित, अतः मरण भय से मुक्त हो।।
तू शुद्ध बुद्ध आनन्द हो, अनन्त ज्ञान दर्श सुख वीर्य हो।
चैतन्य चमत्कार से पूर्ण, अतः वेदना भय से मुक्त हो।। (5)
तू त्रिकाल ध्रुव स्वभावी, युगपत् जानने वाला ज्ञानी हो।
अनेकान्त वस्तु स्वभावी, अतः अकस्मात् भय से मुक्त हो।।
परभाव विभाव से मुक्त हो, ''अहमेक्को खलु सुद्धो'' रूप हो।
स्वयंभू सनातन सम्पूर्ण हो, त्याग-ग्रहण विभाव मुक्त हो।।(6)
स्वयं कर्त्ता भोक्ता विधाता, पर कर्त्ता भोक्ता से मुक्त हो।
पर परिणति विकृति रिक्त हो, स्वभाव परिणति से युक्त हो।।
अतः निर्भय निष्कम्प निर्द्वन्द्व, संकल्प विकल्प संक्लेश मुक्त हो।
स्वयं ध्यान ध्याता ध्येय हो, अतः भयमुक्त तू 'कनक' हो।। (7)
ग.पु.कॉ. 31.5.2020 रात्रि 11.14

संदर्भ-

मोत्तूण सयलजप्पमणागयसुहमसुवारणं किच्चा।

अप्पणं जो झायदि, पच्चक्खाणं हवे तस्स।।(95)।। नियमसार

जो समस्त वचनजाल को छोड़कर तथा आगामी शुभ-अशुभ का निवारण कर आत्मा का ध्यान करता है उसके प्रत्याख्यान होता है।।

आत्मा का ध्यान किस प्रकार किया जाता है ?

केवलणाणसहावो, केवलदंसणसहाव सुहमइओ।

केवलसत्तिसहावो, सोहं इदि चिंतए णाणी।।(96)।।

ज्ञानी जीव को इस प्रकार चिंतन करना चाहिए कि मैं केवलज्ञान स्वभाव हूँ, केवल दर्शन स्वभाव हूँ सुखमय हूँ और केवल शक्ति स्वभाव हूँ।

भावार्थ-ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य ही मेरे स्वभाव हैं, अन्य भाव विभाव हैं। इस प्रकार ज्ञानी जीव आत्मा का ध्यान करते हैं।

णियभावं णइ मुच्चइ, परभावं णेव गेण्हए केइं।

जाणदि पस्सदि सव्वं, सोहं इदि चिंतए णाणी।।(97)।।

जो निज भाव को नहीं छोड़ता है, पर भाव को कुछ भी ग्रहण नहीं करता है, मात्र सबको जानता देखता है वह मैं हूँ, इस प्रकार ज्ञानी जीव को चिंतन करना चाहिए।।

पयडिट्ठिदिअणुभागप्पदेसबंधेहिं वज्जिदो अप्पा।

सोहं इदि चिंतिज्जो, तत्थेव य कुणदि थिरभावं।।(98)।।

प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश बंधों से रहित जो आत्मा है वही मैं हूँ इस प्रकार चिंतन करता हुआ ज्ञानी जीव उसी आत्मा में स्थिर भाव को करता है।।

ममत्तिं परिवज्जामि, णिम्मत्तिमुवट्ठिदो।

आलंबणं च मे आदा, अवसेसं च वोसरे।।(99)।।

मैं ममत्व को छोड़ता हूँ और निर्ममत्व में स्थित होता हूँ, मेरा आलंबन आत्मा है और शेष सबका परित्याग करता हूँ।

आदा खु मज्झ णाणे, आदा मे दंसण चरित्ते य।

आदा पच्चक्खाणे, आदा मे संवरे जोगे।।(100)।।

निश्चय से मेरा आत्मा ही ज्ञान में है, मेरा आत्मा ही दर्शन और चरित्र में है, आत्मा ही प्रत्याख्यान में है और आत्मा ही संवर तथा योग शुद्धोपयोग में है।

भावार्थ-गुण-गुणी में अभेद कर आत्मा ही को ज्ञान, दर्शन, चरित्र, प्रत्याख्यान, संवर तथा शुद्धोपयोग रूप कहा है।।

जीव एकला ही जन्म मरण करता है

एगो य मरदि जीवो, एगो य जीवदि सयं।

एगस्स जादि मरण, एगो सिज्झदि णीरयो।।101।।

यह जीव एकला ही मरता है और एकला ही स्वयं जन्म लेता है। एक का मरण होता है और एक ही कर्मरूपी रज से रहित होता हुआ सिद्ध होता है।

ज्ञानी जीव की भावना

एको मे सासदो अप्पा, णाणदंसणलक्खणो।

सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे संजोगलक्खणा।।(102)।।

ज्ञान दर्शन वाला, शाश्वत् एक आत्मा ही मेरा है। संयोग लक्षण वाले शेष समस्त भाव मुझसे बाह्य हैं।।

आत्मगत दोषों से छूटने का उपाय

जं किंचि मे दुच्चरितं, सव्वं तिविहेण वोसरे।

सामाइयं तु तिविहं, करेमि सव्वं णिरायारं।।103)।।

मेरा जो कुछ भी दुश्चारित्र अन्यथा प्रवर्तन है उस सबको त्रिविध मन वचन काय से छोड़ता हूँ और जो त्रिविध (सामायिक, छेदोस्थापना, परिहार विशुद्धि के भेद से तीन प्रकार का) चारित्र है उस सबको निराकार निर्विकल्प करता हूँ।।

सम्मं मे सव्वभूदेसु, वेरं मज्झं ण केणवि।

आसाए वोसरित्ता णं, समाहि पडिवज्जए।।(104)

मेरा सब जीवों में साम्य भाव है, मेरा किसी के साथ वैर नहीं है। वास्तव में आशाओं का परित्याग कर समाधि प्राप्त की जाती है।।

निश्चय प्रत्याख्यान का अधिकारी कौन है ?

णिक्कसायस्स दंतस्स, सूरस्स ववसाणियो।

संसारभयभीदस्स, पच्चक्खाणं सुहं हवे।।(105)।।

जो निष्कषाय है, इंद्रियों का दमन करने वाला है, समस्त परीषहों को सहन करने में शूरवीर है, उद्यमशील है तथा संसार के भय से भीत है उसी के सुखमय प्रत्याख्यान निश्चय प्रत्याख्यान होता है।।

आलोचना किसके होती है ?

णोकम्मकम्मरहियं, विहावगुणपज्जएहिं वदिरित्तं।
अप्पाणं जो झायदि, समणस्सालोयणं होदि।।(107)।।

जो नोकर्म और कर्म से रहित तथा विभाव गुण पर्यायों से भिन्न आत्मा का ध्यान करता है उस साधु की आलोचना होती है।

तीन भयः विजय पानी है तो पहला कदम उठा लीजिए

लाइफ मैनेजमेंट डॉ. उज्जवल पाटनी

भय स्वाभाविक है, लेकिन उसकी वजह से रुक जाना या सपनों को मार देना गलत है। बड़े कलाकारों को बड़े परफॉर्मेंस के पहले, बड़े खिलाड़ियों को महत्वपूर्ण मुकाबलों के पहले और मेरे जैसे स्पीकर को भी बड़ा कार्यक्रम देने के पहले भय लगता है। लेकिन सभी एचीवर अपने भय को हराकर विजय पाते हैं, इसलिए अपने भय को पहचानकर उससे जीतना सीखिए।

1. किसी काम की शुरुआत करने का भय

हमारे मन में बहुत सारे सपने हैं, लेकिन पहला कदम उठाने में घबराहट होती है। शुरूआती भय को हटाने का इलाज है पहला कदम उठाना। लक्ष्य को तय कर पहला कदम बढ़ा दें। लेखक बनना चाहते हैं तो एक अध्याय का शीर्षक तय करें और लिखना शुरू कर दें। हो सकता है दो-तीन दिन आपसे अच्छे शब्द ना निकले, लेकिन कुछ समय बाद आप अच्छा लिखने लगेंगे। यदि आप सोचेंगे कि पहली बार में ही अच्छा लिख लूं तो यह संभव नहीं है।

2. खुद के हीन व कमजोर होने का भय

मुझमें टैलेंट नहीं है, मुझसे नहीं होगा, ऐसे आत्मघाती वाक्य हमारे अंदर रहते हैं। कई लोग इन आत्मघाती वाक्यों को बाहरी दुनिया से शेयर नहीं करते।

लेकिन यह तो सोचिए कि यह हीन विचार बिना पूरे प्रयास के आपके दिमाग में कैसे आए। क्या सचिन तेंदुलकर या अब्दुल कलाम जी को पता था कि मैं एक दिन बड़ा काम करूंगा। पता किसी को नहीं होता। बस खुद पर भरोसा होता है। यदि आप खुद पर भरोसा नहीं करेंगे तो दुनिया आप पर भरोसा नहीं करेगी। जो कमजोर कहानियां आप खुद को सुनाते हैं, उन पर धीरे-धीरे आपका दिमाग विश्वास करने लगता है। इसलिए आज से पॉजिटिव सेल्फ टॉक शुरू कीजिए। अकेले में खुद से कहिए कि मैं जो भी काम करूंगा, वो पूरा करके ही दम लूंगा। मैं जब किसी मंजिल को पाने के लिए निकलता हूं, तो पाकर ही लौटता हूं। अपने अवचेतन मस्तिष्क को वो सेल्फ टॉक बार-बार सुनाइए, ताकि वो, कहानियां उसके अंदर दर्ज हो।

3. लोगों द्वारा मूल्यांकन किए जाने का भय

क्या कहेंगे लोग, यह सबसे बड़ा रोग...मैं अक्सर अपने सेमीनारों में कहता हूं कि लोग गिरगिट होते हैं और रंग बदलते हैं। जब आप असफल होंगे तो वो कहेंगे कि हम तो जानते थे क्योंकि आपमें दम वाली बात नहीं थी। जब सफल हो जाएंगे तो वे ही लोग अपनी राय बदल लेंगे और कहेंगे कि हम तो पहले से जानते थे कि ये सफल ही होगा। भयभीत होना बुरा नहीं है, भयभीत होकर रुक जाना बुरा है। लोगों को उत्तर देने का सबसे अच्छा तरीका है सफल होना और मंज़िलों को हासिल करना। अधिकांश लोगों के पास अपने लक्ष्य नहीं होते, इसीलिए वे अपना अधिकतम समय दूसरों के मूल्यांकन में बिताते हैं। यदि आप भी लोगों के मूल्यांकन की वजह से रुके हैं, तो मेरी सलाह है कि अच्छी पुस्तकें पढ़ना शुरू कीजिए और अपने आसपास कुछ ऐसे शानदार दोस्त बनाइए जिनके सपने बड़े हों।

हो सकता है कि आपके अंदर कोई ऐसी प्रतिभा हो जो आज तक बाहर नहीं आई हो। हो सकता है आप कुछ ऐसा कर जाए कि देश-समाज आपको याद करे और आपकी तरह बनना चाहे। यदि आप प्रयास ही नहीं करेंगे तो कोई भी संभावना कभी सच नहीं हो पाएगी।

हर आत्मा अद्वितीय-अतुलनीय

(अजीव से जीव की तुलना या उदाहरण बाल प्रबोधनार्थ, सुख-सुगमनार्थ न कि सर्वथा समानार्थ)

(इससे मेरी समता शान्ति आत्मविशुद्धि, बुद्धिलब्धि कार्यक्षमतादि में हो रही है वृद्धि)

(चालः- 1. अच्छा सिला दिया....2. आत्मशक्ति....)

एक जीव न होता अन्य जीव, अतः हर आत्मा है अद्वितीय।
अन्य द्रव्य सभी अचेतन होते, अतः हर आत्मा अतुलनीय।।
हर आत्मा में होते अनन्त गुण, हर गुण के अनन्त हैं पर्याय।
ऐसे गुण पर्याय न अन्य द्रव्य में, अतः आत्मा होता अतुलनीय।। (1)

सब से बड़ा है आकाश द्रव्य, आकाश से भी अनन्त गुणी आत्मिक शक्ति।
अनन्त आकाश भी यदि होते संभव, उसे भी जानने की क्षमता शक्ति आत्मा में।।
आकाश में स्थित अनन्तानन्त अणु, उससे भी अनन्त गुणा ज्ञान है।
धर्माधर्म कालाणु असंख्य-असंख्य, उससे भी अनन्त गुणा ज्ञान हैं। (2)

तीन लोक त्रिकाल के देव मानव, जितना सुख अनुभव करते हैं।
उससे भी अनन्त गुणा आत्मिक सुख, एक परमात्मा सदा भोगते हैं।।
तथाहि वीर्यादि गुण होते हैं, अतएव आत्मा अद्वितीय अतुलनीय।
एक सिद्ध की तुलना अन्य सिद्ध से, न सिद्ध तुलना संसारी जीवों से ।। (3)

यह व्यवहार भले तुलनीय है, निश्चय से अद्वितीय अतुलनीय हैं।
ऐसी परिस्थिति में सभी विचारणीय, उदाहरण केवल बाल प्रबोधनार्थ।।
चन्द्रमुखी न होती जड़ चन्द्रमा सम, आत्मा न होता किसी जड़ सम।
दयासागर, ज्ञानसूर्य, क्षमा धरती आदि, दृष्टान्त-द्राष्टान्त न सर्वत्र सम।। (4)

बाल प्रबोधनार्थ व सुबोधनार्थ, कथनीय है न पूर्णतः एकार्थ।
आत्मा के गुणगणस्वानुभवगम्य, अलौकिक गणित में अनन्तानन्त।।
अतएव आत्मा अद्वितीय अतुलनीय, सर्वज्ञ ज्ञानगम्य न लौकिक प्रमाण।
एक सिद्ध में होते अनन्त सिद्ध समाहित, तथापि एक सिद्ध न होते अन्यसिद्ध।।(5)

प्रत्येक के ज्ञानादि पृथक्-पृथक् हैं, भले क्षेत्र कालादि हो समान एक।
एक निगोदिया शरीर में अनन्त निगोद, तथापि प्रत्येक के कर्म व दुःख भिन्नभिन्न।।
कोई भव्य तो कोई होते अभव्य, निष्क्रमण काल भी एक समान।
अतः कोई भी जीव न ऊँच-नीच, ''सव्वेसुद्धाहुसुद्धणया'' अपेक्षा। (6)
यह आध्यात्मिक परम रहस्य ज्ञान, रागी द्वेषी मोही से अज्ञात सत्य।
हर जीव अद्वितीय अनुपम, समान, अनादि अनिधन, स्वयंभू-संपूर्ण।।
स्वाधीन, भौतिक, स्वकर्त्ता-भोक्ता, ऐसी श्रद्धा-प्रज्ञा से पूर्ण 'कनक'
श्रमण।।(7)

ग.पु. कॉ. 1.6.2020 मध्याह्न 2.58

समता से आत्मा बने परमात्मा

(समता में समस्त धर्म समाहित, समता बिना समस्त धर्म कुधर्म)

(चालः- 1 गंगा तेरा पानी अमृत) - आचार्य कनकनन्दी

समता तेरे अमृत द्वारा, आत्मा परमात्मा बन जाये।
तेरे अभावे संसारी जीव, सर्वत्र ही दुःख पाये।।...(स्थायी)
तुझ में ही समाहित आत्मविश्वास व ज्ञान चारित्र।
उत्तम क्षमामार्दव आर्जव सत्य शौच संयम तप त्याग ब्रह्म आकिंचन्य।।
तुझमें ही समाहित अहिंसा सत्य अचौर्य ब्रह्म अपरिग्रह व्रत।
तथाहि मैत्री प्रमोद कारुण्य माध्यस्थ व द्वादश अनुप्रेक्षाएँ।। (1)
द्वादश तप व उपसर्ग परीषह संहनन तुझ में ही समाहित।
तेरे बिना न उक्त सभी गुण व्रत तप त्याग अनुप्रेक्षादि न संभव।।
आप ही उक्त सभी गुणादि के आत्मा जिससे उक्त गुणादि जीवन्त।
आत्मा बिना यथा शरीर शव है तव बिना गुणादि दुर्गुण सम।। (2)
तेरे बिना द्वीपायन मुनि की दुर्दशा हुई जली द्वारका नगरी।
करोड़ों अरबों पशु मानव मरे तेरे सद्भाव से न जलती नगरी।।
तेरे कारण न होते राग द्वेष मोह तथाहि ईर्ष्या तृष्णा घृणा।
वाद विवाद कलह वैर विरोध द्वन्द्व तनाव डिप्रेशन से ले आत्महत्या।। (3)
ख्याति पूजा लाभ प्रसिद्धि वर्चस्व मान अपमान भी होते नाश।

संकल्प विकल्प संक्लेश नशे तथाहि आकर्षण-विकर्षण अशेष।।
तुझ से जब मिले परम मुक्ति (शान्ति, शुद्धि),तब अन्य समस्यायें क्या न होंगी दूर।
जिस आकाश में समाहित लोकालोक, उसमें क्या समाहित न होंगे सागर।।(4)

यथा मूल में पानी देने से विशाल वृक्ष होता उससे सम्बद्ध।
तथाहि तेरे सेवन से सम्पूर्ण यम नियम होते सम्बद्ध।।
तू ही परम धर्म, राजनीति, कानून, न्याय व संविधान।
नीति नियम से ले मर्यादा तुम बिना ये सभी प्राणहीन।। (5)

''धम्मो सो सम्मोति'' पाले तथाहि कहे, सभी सर्वज्ञ वीतरागी देव।
तुझसे आत्मविशुद्धि बढ़े जिससे श्रेणी आरोहण से मिले मुक्ति तक।।
अतः हे समता! तुम ही मुक्ति दात्री तेरे बिना संसार सन्तति।
तुझे मैं ध्याऊँ तुझे बढ़ाऊँ जिससे ''कनक सूरी'' मुक्ति शीघ्र पाऊँ।।(6)

ग.पु. कॉ. 25.5.2020 रात्रि 9.50 व प्रातः 5.48
(यह कविता दिनेश चन्द्र शाह के कारण बनी)

संदर्भ

जिसमें सत्य, धर्म, अहिंसा, संयम और दम है वही विगतमल, धीर स्थविर कहा जाता है।

यो च समेति पापानि अणुं थूलानि सब्बसो।
समितत्ता ही पापनं समणो ति पवुच्चति।।(10)

जो छोटे-बड़े पापों को सर्वथा शमन करने वाला है, पाप को शामित होने के कारण वह श्रमण कहा जाता है।

योध पुण्णञ्च बाहित्वा ब्रह्मचरिय वा।
संखाय लोके चरति स वे भिक्खू ति वुच्चति।।(12)

जो यहाँ पुण्य और पाप को छोड़ ब्रह्मचारी बन ज्ञान के साथ लोक में विचरता है, वह भिक्षु कहा जाता है। नारायण श्रीकृष्ण ने भी संयमी को ही प्रज्ञावान्, स्थितप्रज्ञ, स्थिर बुद्धि वाला कहा है। यथा-

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते।। (55) गीता

पार्थ! जब मनुष्य मन में उठती हुई समस्त कामनाओं का त्याग करता है और आत्मा द्वारा ही आत्मा में संतुष्ट रहता है तब वह स्थितप्रज्ञ कहलाता है।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते।। (56)

दुःख से जो दुःखी न हो, सुख की इच्छा न रखे और जो राग, भय और क्रोध से रहित हो वह स्थिर बुद्धि मुनि कहलाता है।

य सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।। (57)

सर्वत्र रागरहित होकर जो पुरुष शुभ या अशुभ की प्राप्ति में न हर्षित होता है न शोक करता है, उसकी बुद्धि स्थिर है।

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गनीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।। (58)

कछुआ जैसे सब ओर से अंग समेट लेता है तैसे जब यह पुरुष इन्द्रियों को उनके विषय में से समेट लेता है तब उसकी बुद्धि स्थिर हुई कही जाती है।

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्ज रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते।। (59)

देहधारी निराहारी रहता है तब उसके विषय मंद पड़ जाते हैं। परंतु रस नहीं जाता। वह रस तो ईश्वर का साक्षात्कार होने से निवृत्त होता है।

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।। (61)

इन सब इन्द्रियों को वश में रखकर योगी को मुझमें तन्मय हो रहना चाहिए, क्योंकि अपनी इन्द्रियाँ जिसके वश में है उसकी बुद्धि स्थिर है।

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावायतः शांतिरशान्तस्य कुतः सुखम्।। (66)

जिसे समत्व नहीं, उसे विवेक नहीं, उसके भक्ति नहीं और जिसे भक्ति नहीं उसे शांति नहीं है और जहाँ शांति नहीं, वहाँ सुख कहाँ से हो सकता है ?

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि।। (67)

विषयों में भटकने वाली इन्द्रियों के पीछे जिसका मन दौड़ता है, उसका मन वायु जैसे नौका को जल से खींच ले जाता है वैसे ही उसकी बुद्धि को जहाँ चाहे खींच ले जाता है।

सदा सर्व में साम्यभाव रखने वाला श्रमण है

समसत्तुबंधुवग्गो समसुहदुक्खो पसंसणिदसमो।
समलोट्ठकंचणो पुण जीविदमरणे समो समणे।। (241) प्र.सार

Enemies and the members of the family, happiness and misery, praise and censure, a clod of earth and (A lump of gold and even life and death are alike to the Sramana).

शत्रु, बंधु, सुख, दुःख, निन्दा, प्रशंसा, लोष्ठ, कंचन तथा जीवन-मरण में समता की भावना में परिणमन करते हुए अपने ही शुद्धात्मा का सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान तथा आचरण रूप जो निर्विकिल्प समाधि उससे उत्पन्न निर्विकार परम आह्लाद रूप एक लक्षण धारी सुख रूपी अमृत में परिणमन स्वरूप जो परम समता भाव सो ही उस तपस्वी का लक्षण है जो परमागम का ज्ञान, तत्त्वार्थ का श्रद्धान संयमपना इन तीनों को एक साथ रखता हुआ निर्विकल्प आत्मज्ञान में परिणमन कर रहा है ऐसा जानना चाहिए।

संयम सम्यग्दर्शन ज्ञानपूर्वक चारित्र है, चारित्र धर्म है, धर्म साम्य है, साम्य मोह क्षोभ रहित आत्म परिणाम है। इसलिए संयत का साम्य लक्षण है।

वहाँ, (शत्रु)-बंधु वर्ग में, (2) सुख-दुःख में, (3) प्रशंसा-निंदा में, (4) कंकड़ और सोने में, (5) जीवन-मरण में एक ही साथ, (1) यह मेरा पर (शत्रु है), यह स्व (स्वजन है), यह आह्लाद है यह परिताप है, (3) यह मेरा उत्कर्ष बढ़वारी है यह अपकर्षण घटती है, (4) यह मुझे अकिञ्चित्कर है, यह उपकारक है, (5) यह मेरा स्थायित्व है, यह अत्यंत विनाश है, इस प्रकार मोह के अभाव के कारण सर्वत्र जिसके रागद्वेष का द्वैत प्रगट नहीं होता, जो सतत विशुद्ध दर्शन ज्ञान स्वभाव आत्मा का अनुभव करता है और (इस प्रकार) शत्रु-बंधु, प्रशंसा और निंदा लोष्ठकांचन

और जीवन-मरण को, निर्विशेषतया ही (बिना अंतर के) ज्ञेयरूप से ज्ञानकार ज्ञानात्मक आत्मा में जिसकी परिणति अचलित हुई है, उस पुरुष को वास्तव में जो सर्वतः साम्य है सो साम्य संयत का लक्षण समझना चाहिए उस संयत के आगमज्ञान-तत्त्वार्थश्रद्धान-संयतत्व की युगपतता के साथ आत्मज्ञान की युगपतता है।

समीक्षा-यह गाथा बहुत महत्वपूर्ण है क्योंकि इस गाथा में समता की परिभाषा तथा श्रमण की परिभाषा दी गई है। जो समताधारी होगा वह श्रमण होगा, जो श्रमण होगा वह समताधारी होगा। समता जीव का स्व-शुद्ध स्वरूप होने के कारण यह समता ही चारित्र है, रत्नत्रय है, धर्म है, मोक्षमार्ग है तथा मोक्ष भी है। क्योंकि जीव की साम्यावस्था ही समता है, सामायिक है और वह अवस्था संकल्प-विकल्प, आकर्षण-विकर्षण, मोह-क्षोभ, राग-द्वेष, इन्द्रिय जनित सुख-दुःख से रहित परम समरसी भाव स्वरूप है। मिथ्यात्व अवस्था में पूर्ण वैभाविक भाव होने के कारण साम्य भाव हो ही नहीं सकता है। भले मंद कषाय के कारण शुभ लेश्या के कारण मिथ्यादृष्टि दिगम्बर मुनि बनकर घोर-उपसर्ग परीषह को सहता हो। इससे भले ही वह नौ-ग्रैवेयेक में उत्पन्न हो जाए। सम्यग्दर्शन होने पर मिथ्यात्व तथा अनंतानुबंधी के चतुष्क के यथायोग्य उपशम, क्षय, क्षयोपशम से जितने अंश में आत्मा में निर्मलता आती है, संकल्प-विकल्प दूर होता है, राग-द्वेष दूर होता है उतने अंश में समता अवश्य आती है परन्तु यह करणानुयोग की अपेक्षा है परन्तु चरणानुयोग की अपेक्षा चतुर्थ गुणस्थान में चारित्र न होने के कारण वहाँ समता या सामायिक को स्वीकार नहीं किया गया है। पंचम गुणस्थान के शिक्षाव्रत में सामायिक को स्वीकार किया गया है। श्रावक सामायिक में समस्त आरंभ-परिग्रह त्याग करता हुआ यथायोग्य शीत-उष्ण, सुख-दुःख को समता भाव से सहन करता हुआ पंच परमेष्ठी का ध्यान या आत्म भावना करता है। समन्तभद्र स्वामी ने ऐसे श्रावक को वस्त्रों से वेष्टित मुनि के समान कहा है। यथा-

एकान्ते सामायिकं निर्व्याक्षेपे वनेषु वास्तुषु च।
चैत्यालयेषु वापि च परिचेतव्यं प्रसन्नधिया।। (9) र.श्रा.

वह सामायिक निर्मल बुद्धि के धारक श्रावक के द्वारा स्त्री, पुरुष तथा नपुंसकों से रहित प्रदेश में चित्त में चंचलता उत्पन्न करने वाले कारणों से रहित स्थान में, वनों में, मकानों में अथवा मंदिरों में भी बढ़ाने के योग्य है।

व्यापार वैमनस्याद्विर्निवृत्त्यामन्तरात्मविनिवृत्याम्।
सामायिकं बध्नीयादुपवासे चैकभुक्ते वा।। (10)

शरीरादिक की चेष्टा और मन की व्यग्रता अथवा कलुषता से निवृत्ति होने पर मानसिक विकल्पों की विशिष्ट निर्वृत्तिपूर्वक उपवास के दिन अथवा एकाशन के दिन और अन्य समय भी सामायिक करना चाहिए।

सामायिकं प्रतिदिवसं यथावदप्यनलसेन चेतव्यं।
व्रतपंचकपरिपूरणकारणमवधानयुक्तेन।(11)

आलस्य से रहित और चित्त की एकाग्रता से युक्त पुष्प के द्वारा हिंसा त्याग आदि पाँच व्रतों की पूर्ति का कारण सामायिक प्रतिदिन भी योग्यता के अनुसार बढ़ाने के योग्य है।

सामायिके सारम्भाः परिग्रह नैव सन्ति सर्वेऽपि।
चेलोपसृष्टमुनिरिव गृही तदा याति यतिभाव।। (12)

क्योंकि सामायिक के काल में आरंभ सहित सभी परिग्रह नहीं ही है इसलिए इस समय गृहस्थ उपसर्ग के कारण वस्त्र से वेष्टित मुनि के समान मुनिपने को प्राप्त होता है।

वह सामायिक संपूर्ण मूलगुण और उत्तरगुण को बढ़ाने वाला है, आत्मा को परिशुद्ध करने वाला है, कषायों, संकल्प-विकल्प, तनाव को दूर करने वाला होता है। इसलिए अधिक से अधिक श्रावकों को भी सामायिक करने की प्रेरणा दी है। आधुनिक शोध के अनुसार भी सिद्ध हो गया है कि तनाव से, विषमता से अधिकांश मानसिक रोग होता है। जिससे अधिकांश शारीरिक रोग भी होते हैं। इसलिए तनाव को दूर करने के लिए शारीरिक शिथिलीकरण के साथ मानसिक शिथिलीकरण, पवित्रता, भाव परिष्कार, योग, ध्यान आदि को अधिक महत्व दिया जाता है। इससे शारीरिक मानसिक रोग होने के साथ-साथ आध्यात्मिक रोग स्वरूप द्रव्य कर्म, भाव कर्म नष्ट हो जाते हैं। जिससे जीव को परम स्वास्थ्य रूप मोक्ष की भी प्राप्ति हो जाती है। इसका विशेष वर्णन मैंने मेरी ''धर्म एवं स्वास्थ्य विज्ञान'' में किया है। विशेष जिज्ञासु वहाँ से अवलोकन करें।

श्रावक अवस्था में श्रावक समता का अभ्यास करता-करता जब राग-द्वेष-मोह का अधिक शिथिलीकरण कर लेता है तब वह श्रमण बन जाता है। श्रमण का साम्यभाव ही साम्य है, समता भाव है। जब मुमुक्षु श्रमण बनता है तब समस्त सावद्य का परित्याग स्वरूप सामायिक चारित्र को स्वीकार करता है। जब इसमें स्थिरता नहीं रहती है तब छेदोपस्थापना चारित्र या विकल्प स्वरूप 28 मूलगुणों को धारण, पालन करता है। यह सामायिक चारित्र ही बढ़ता-बढ़ता परमयथाख्यात चारित्र रूप में परिणमन करता है।

श्रावक तो तीन संध्या में सामायिक का अभ्यास करता है परन्तु श्रमण सतत सामायिक रूप में रहता है। जो साधु के लिए तीन संध्या में सामायिक का विधान है वह सामयिक को और वृद्धि करने के लिए तथा आत्मा में स्थिरता धारण करने के लिए है। यदि साधु तीन समय में सामायिक करता है और अन्य समय में समता भाव में नहीं रहता है तब वस्तुतः वह साधु श्रमण नहीं है। क्योंकि ''समो समणे'' या संयतस्य ''साम्य लक्षणं'' अर्थात् साम्य ही श्रमण है तथा संयत का लक्षण साम्य भाव है। कुंदकुंद देव ने नियमसार में कहा भी है-

संजमणियमतवेण दु, धम्मज्झाणेण सुक्कझाणेण।
जो झायइ अप्पाणं, परमसमाही हवे तस्स।।(123)

संयम, नियम और तप से तथा धर्मध्यान और शुक्ल ध्यान से जो आत्मा को ध्याता है, उस साधु की परम समाधि होती है।

किं काहदि वणवासो, कायकिलेसो विचित्र उववासो।
अज्झयणमौणपहुदी, समदाररहियस्स समणस्स।। (124)

वन में निवास, काया का क्लेश, अनेक विविध उपवास तथा अध्ययन, मौन आदि कार्य, समता से रहित श्रमण के लिए क्या करेंगे ?

विरदो सव्वसावज्जे, तिगुत्तो पिहिदिंदिओ।
तस्स सामाइगं ठाई, इदि केवलिसासणे।। (125)

जो संपूर्ण सावद्य योग से विरत, तीन गुप्ति से सहित, और इन्द्रियों को संवृत्त करने वाले हैं, उनके स्थायी सामायिक है, ऐसा केवली भगवान् के शासन में कहा है।

जो समो सव्वभूदेसु, थावरेसु तसेसु व।
तस्य सामाइगं ठाई, इदि केवलिसासणे।। (126)

जो स्थावर और त्रस जीवों के प्रति समस्वभावी हैं, उसके सामायिक स्थायी हैं, ऐसा केवली भगवान् के शासन में कहा है।

जस्स सण्णिहिदो अप्पा, संजमे णियमे तवे।
तस्स सामाइगं ठाई, इदि केवलिसासणे।। (127)

जिसकी आत्मा संयम में, नियम में और तप में निकट है उसके सामायिक व्रत स्थायी है, ऐसा केवली भगवान् के शासन में कहा है।

जस्स रागो दु दोसो दु, विगडिं ण जणेइ दु।
तस्स सामाइगं ठाई इदि केवलिसासणे।। (128)

जिनके राग और द्वेष विकृति को उत्पन्न नहीं करते हैं उनके सामायिक व्रत स्थायी है, ऐसा भगवान् केवली के शासन में कहा है।

जो दु अट्टं च रुद्दं च, झाणं वज्जेदि णिच्चसा।
तस्स समाइगं ठाई, इदि केवलिसासणे।। (129)

जो आर्त्त तथा रौद्र ध्यान को नित्य ही छोड़ देते हैं, उनके सामायिक स्थायी है ऐसा केवली भगवान् के शासन में कहा है।

जो दु हस्सं रई सोगं, अरदिं वज्जेदि णिच्चसा।
तस्स सामाइगं ठाई, इदि केवलिसासणे।। (131)
जो दुगंछा भयं वेदं, सव्वं वज्जेदि णिच्चसा।
तस्स सामाइगं ठाई, इदि केवलिसासणे।। (132)

जो हास्य, रति, शोक और अरति को नित्य ही छोड़ देता है, उसके सामायिक स्थायी होता है, ऐसा केवली भगवान् के शासन में कहा है। जो जुगुप्सा, भय और सभी वेद को नित्य ही छोड़ देता है, उसके सामायिक व्रत स्थायी है, ऐसा केवली भगवान् के शासन में कहा है।

जो दु धम्मं च सुक्कं च, झाणं झाएदि णिच्चसा।
तस्स सामाइगं ठाई, इदि केवलिसासणे।। (133)

जो साधु धर्म और शुक्ल ध्यान को नित्य ही ध्याता है उसके सामायिक स्थायी होता है, ऐसा भगवान् केवली के शासन में कहा गया है।

जब सम्यक् दर्शन की उपलब्धि हो जाती है तब वस्तु स्वरूप का ज्ञान हो जाता है तथा जब राग-द्वेष क्षीण होता जाता है जब विषमता भी क्षीण होती जाती है। जब अंतरंग में इस प्रकार निर्मल समरसी भाव आ जाता है तब उसका प्रभाव बाह्य जगत् में भी पड़ता है इसलिए वह बाह्य द्रव्यों से प्रभावित नहीं होता है। अतः उसके लिए न कोई शत्रु रहता है और नही कोई मित्र होता है न कोई अपना रहता है न कोई पराया रहता है। उसके लिए न तो कोई बाह्य लाभ स्वरूप है और नही कोई बाह्य हानि स्वरूप है। वह तो समस्त विषयों से तटस्थ, प्रज्ञ, औदासीन्य, वीतरागी-वीतद्वेषी, साम्यभावी बन जाता है। जिस प्रकार नदी के तीर में बैठा हुआ व्यक्ति नदी के स्रोत से न बहता है न ही नदी के जलचर हिंस्र पशु उसे क्षति भी पहुँचा सकते है।

क्षीयन्तेऽत्रैव रागाद्यास्तत्त्वतो मां प्रपाश्यतः।
बोधात्मानं ततः कश्चिन्न में शत्रुर्न च प्रियः।। (25) स.त.

जब तक यह जीव अपने निजानन्दमयी स्वाभाविक निराकुलता रूप सुधामृत का पान नहीं करता तब तक ही वह बाह्य पदार्थों को भ्रम से इष्ट अनिष्ट मानकर उनके संयोग-वियोग के लिए सदा चिंतित रहता है। जो उस संयोग-वियोग के साधक होते हैं उन्हें अपना शत्रु-मित्र मान लेता है, किन्तु जब आत्मा प्रबुद्ध होकर यथार्थ वस्तुस्थिति का अनुभव करने लगता है तब रागद्वेषादिरूप विभाव परिणति मिट जाती है और इसलिए बाह्य सामग्री के साधक-बाधक कारणों में उसके शत्रु-मित्र का भाव नहीं रहता तो उस समय अपने ज्ञानानन्दस्वरूप में मग्न रहना ही सर्वोपरि समझता है।

मामपश्यन्नयं लोको न मे शत्रुर्न च प्रियः।
मां प्रपश्यन्नयं लोको न मे शत्रुर्न च प्रियः।। (26)

आत्मज्ञानी विचारता है कि शत्रु-मित्र की कल्पना परिचित व्यक्ति में ही होती है अपरिचित व्यक्ति में नहीं। ये संसार के बेचारे अज्ञप्राणी जो मुझे देखते जानते ही नहीं मेरा आत्मस्वरूप जिनके चर्मचक्षुओं के अगोचर हैं वे मेरे विषय में शत्रु-मित्र की कल्पना कैसे कर सकते हैं और जो मेरे स्वरूप को जानते हैं- वे मेरे शुद्धात्म स्वरूप

का साक्षात् अनुभव करते हैं वे मेरे शत्रु व मित्र कैसे बन सकते हैं? इस प्रकार अज्ञ व विज्ञ दोनों ही प्रकार के जीव मेरे शत्रु या मित्र नहीं हैं।

अचेतनमिदंदृश्यमदृश्यंचेतनं ततः।
क्ररुष्यामि तुष्यामि मध्यस्थोऽह भावाम्यतः।।

अंतरआत्मा को अपने अनाद्यन्त अविद्यारूप भ्रांत संस्कारों पर विजय प्राप्त करने के लिए सदा ही यह विचार करते रहना चाहिए कि जिन पदार्थों को मैं इन्द्रियों के द्वारा देख सकता हूँ वे सब तो जड़ हैं चेतना से रहित है उन पर रोष करना व्यर्थ है-वे उसे कुछ समझ नहीं सकते और जो चैतन्य पदार्थ हैं वे दिखाई नहीं पड़ते वे मेरे रोषतोष का विषय हो ही नहीं सकते। अतः मुझे किसी से राग-द्वेष न रखकर माध्यस्थ भाव का ही अवलम्बन कर लेना चाहिए। महात्मा बुद्ध ने भी समता का वर्णन निम्न प्रकार से किया है-

सेलो यथा एकघनो वातेन न समीरति।
एवं निंदापसंसासु न सामिञ्जन्ति पण्डिता।। (16) धम्मपद

जैसे ठोस पहाड़ हवा से नहीं डिगता वैसे ही पंडित निंदा और प्रशंसा से नहीं डिगते।

सब्बत्थ वे सप्पुरिसा चजन्ति न काम कामा लपयन्ति सन्तो।
सुखेन पुट्ठा अविा दुखेन न अच्चावचं पंडितं दस्सयंति।। (8)

सत्पुरुष सभी (छंद-राग आदि) को त्याग देते हैं वे काम-भोगों के लिए बात नहीं चलाते। सुख मिले या दुःख विकार नहीं प्रदर्शन करते।

मा पियोहि समागच्छि अप्पियेहि कदाचनं।
पियानं अदस्सनं दुख्खं अप्पिनानंच दस्सनं।। (2)

प्रियों का संग न करें और न कभी अप्रियों का, प्रियों को न देखना दुःखद है और अप्रियों का देखना।

वाहितपापोति ब्रह्मणो समचरिया समणोति बुच्चति।
पबबाजयमत्तनो मलं तस्मा पब्बोजित्तोति वुच्चति।। (6)

जिसने पाप को धोकर बहा दिया है वह ब्राह्मण है जो समता का आचरण

करता है वह श्रमण है, (चूँकि) उसने अपने (चित्त) मलों को हटा दिया इसलिए वह प्रव्रजित कहा जाता है।

समता को हर तीर्थंकर ने अधिक महत्व दिया है। इसलिए बीच के 22 तीर्थंकरों ने मात्र सामायिक चारित्र का ही शिष्यों के लिए प्रतिपादन किया था। क्योंकि सामायिक में ही समस्त मूलगुण-उत्तरगुण चारित्र रत्नत्रय, दशलक्षण धर्म बाईस परीषहजय गर्भित हैं। इस सामायिक से ही तत्त्व की उपलब्धि, बोधि लाभ, मोक्ष लाभ होता है। इसलिए अमृतचंद सूरि ने श्रावकों के लिए भी सामायिक अधिक से अधिक करने के लिए प्रेरित किया है। यथा-

रागद्वेषत्यागान्निखिलद्रव्येषु साम्यमवलम्ब्य।
तत्तत्वोपलब्धिमूल बहुशः सामायिकं कार्यं।। (48) (पु.सि.पू)

समस्त सोना-चाँदी और तृणादिक तथा शत्रु, मित्र, महल, श्मशान आदि द्रव्यों में राग-द्वेष को त्याग कर देने से समताभाव धारण करके तत्त्व प्राप्ति का मूल कारणभूत सामायिक अधिक रूप से करना चाहिए।

सम् उपसर्ग पूर्वक गति (जाना) अर्थ वाली इण् धातु से समय बनता है। सम का अर्थ एकीभाव है, अय का अर्थ गमन है, जो एकीभाव रूप से गमन किया जाये उसे समय कहते हैं उसका जो भाव है उसे सामायिक कहते हैं। अर्थात् जो आत्मा को समस्त मन, वचन, काय की इतर वृत्तियों से रोककर निश्चित एक ध्येय की ओर लगा दिया जाता है वही सामायिक कहलाता है।

विपरीत परिस्थिति में, समस्या में, परीक्षा की घड़ी में जो विचलित हो जाता है वह प्रगति नहीं कर सकता है। उसमें दृढ़ता नहीं आ सकती है, अनुभव नहीं कर सकता है, ज्ञान की प्राप्ति नहीं कर सकता है। जिस प्रकार अशुद्ध सुवर्ण को अग्नि से तपाने पर उसकी अशुद्धता निकल जाती है उसी प्रकार जो सुख-दुःख, अनुकूल-प्रतिकूल, लाभ-अलाभ रूपी अग्नि से तपता है तब वह शुद्ध हो जाता है परिपक्व हो जाता है। इसलिए विषमता से भयभीत नहीं होना चाहिए, पलायन नहीं करना चाहिए। उस समय अधिक से अधिक समता रखना चाहिए आत्मा का ध्यान रखना चाहिए।

अदुःखभावितं ज्ञानं क्षीयते दुःखसन्निधौ।

तस्माद्यथाबलं दुःखैरात्मानं भावयेन्मुनिः।। (102) स.पृ.

जो भेद विज्ञान दुःखों की भावना से रहित है-उपार्जन के लिए कुछ कष्ट उठाए बिना ही सहज सुकुमार उपाय द्वारा बन जाता है वह परीषह उपसर्गादिक दुःखों के उपस्थित होने पर नष्ट हो जाता है। इसलिए अंतरआत्मा योगी को अपनी शक्ति के अनुसार दुःखों के साथ आत्मा की शरीरादि से भिन्न भावना करनी चाहिए।

उत्तराध्ययन में समता का सविस्तार वर्णन निम्न प्रकार से किया है-

चत्तपुत्तकलात्तस्स निव्वावारस्सभिक्खुणो।

पियं न विज्जई किंचि अप्पियं पि न विज्जए।। (15)

पुत्र और पत्नी और गृह व्यापार से मुक्त भिक्षु के लिए न कोई वस्तु प्रिय होती है और न कोई अप्रिय-

पंचमहव्वयजुत्तो पंचसमिओ तिगुत्तिगुत्तो य।

सब्भिन्तर-बहिरओ तवोकम्मंसि उज्जुओ।। (88)

पंच महाव्रतों से युक्त, पाँच समितियों से समित, तीन गुप्तियों से गुप्त, आभ्यंतर और बाह्य तप में उद्यत-

निम्ममोनिरहंकारोनिस्संगोचत्तगारवो।

समो य सव्वभूएसु तसेसु थावरेसु या।। (89)

ममत्व रहित, अहंकार रहित, संग रहित गौरव का त्यागी, त्रस तथा स्थावर सभी जीवों में समदृष्टि।

लाभालाभेसुहेदुक्खेजीविएमरणेतहा।

समो निन्दा पसंसासु तहा माणावमाणओ।। (90)

लाभ में, अलाभ में, सुख में दुःख में, जीवन में, मरण में, निन्दा में, प्रशंसा में और मान अपमान में समत्व का साधक-

गारवेसु कसाएसु दण्द-सल्ल-भएसु य।

नियतो हास सोगाओ अनियाणो अबन्धणो।। (91)

गौरव, कषाय, दण्ड, शल्य, भय, हास्य और शोक से निवृत्त, निदान अैर बंधन से मुक्त-

अणिस्सिओ इहं लोए परलोए अणिस्सिओ।
वासीचन्दणकप्पो य असणे अणसणे तहा।। (92)

इस लोक और परलोक में अनासक्त, बसूले से काटने अथवा चंदन लगाए जाने पर भी तथा आहार मिलने और न मिलने सम-

एव नाणेण चरणेण दसणेण तवेण य।
भावणाहि य सुद्धाहिं सम्मं भावेत्तु अप्पयं।। (94)

इस प्रकार ज्ञान, चारित्र, दर्शन, तप और शुद्ध भावनाओं के द्वारा आत्मा को सम्यक्तया भावित कर-

वियाणिया दुक्खविवद्धण धणं ममत्तबंधं च महब्भयावहं।
सुहावहं धम्मधुरं अणुत्तरं धारेह निव्वाणगुणावहं महं।। (98)

धन को दुःख वर्धक तथा ममत्व बंधन को महाभयंकर जानकर निर्वाण के गुणों को प्राप्त करने वाली, सुखावह अनंत सुख प्रापक, अनुत्तर धर्मधुरा को धारण करो।

जहित्तु संगं च महाकिलेसं महन्तमोहं कसिणं भयावहं।
परियायधम्मं चऽभिरोयएज्जा वयाणि सीलाणि परिसहेय।।

दीक्षित होने पर महाक्लेशकारी, महामोह और पूर्ण भयकारी संग (आसक्ति) का परित्याग करके पर्याय धर्म साधुता में, व्रत में, शील में और परीषहों में परीषहों को समभाव से सहन करने में अभिरुचि रखे।

सव्वेहिं भूएहिं दयाणुकम्पी खन्तिक्खमे संजय बम्भयारी।
सावज्जजोगं परिवज्जयन्तो चरिज्जभिक्खू सुसमाहिइन्दिए।। (13)

इन्द्रियों का सम्यक् संवरण करने वाला भिक्षु सब जीवों के प्रति करुणाशील रहे, क्षमा से दुर्वचनादि को सहन करने वाला हो, संयत हो, ब्रह्मचारी हो। वह सदैव सावद्ययोग का पापाचार का परित्याग करता हुआ विचरण करे।

कालेण कालं विहरेज्ज रट्ठे बलाबलं जाणिय अप्पणो य।
सीहो व सद्देण न संतसेज्जा वयजोग सुच्चा न असब्भमाहु।। (14)

साधु समयानुसार अपने बलाबल को, अपनी शक्ति को जानकर राष्ट्रों में

विचरण करे। सिंह की भाँति भयोत्पादक शब्द सुनकर भी संत्रस्त न हो। असभ्य वचन सुनकर भी बदले में असभ्य वचन न कहे।

उवेहमाणो उ परिव्वएज्जा वियमप्पियं सव्व तितिक्खएज्जा।
न सव्व सव्वत्थऽभिरोयएज्जा य याचि पूयं गरहं च संजए।। (15)

संयमी प्रतिकूलताओं की उपेक्षा करता हुआ विचरण करे। प्रिय-अप्रिय अर्थात् अनुकूल-प्रतिकूल सब परीषहों को सहन करे। सर्वत्र सबकी (जो भी अच्छी वस्तु देखे या सुने, उनकी अभिलाषा न करे, पूजा और गर्हा भी न चाहे।

कर्मयोगी नारायण कृष्ण ने भी समता योग (साम्य भाव) का वर्णन गीता में निम्न प्रकार से किया है-

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्दो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवातन्।। (45)

हे अर्जुन! जो तीन गुण वेद के विषय है, उनसे तू अलिप्त रह। सुख-दुःखादि द्वंद्वों से मुक्त हो। नित्य सत्य वस्तु में स्थिर रह किसी वस्तु को पाने और संभालने के झंझट से मुक्त रह। आत्म परायण हो।

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्।। (66)

जिसे समत्व नहीं, उसे विवेक नहीं, उसे भक्ति नहीं और जिसे भक्ति नहीं उसे शांति नहीं है और जहाँ शांति नहीं है वहाँ सुख कहाँ से हो सकता है ?

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते।। (3)

जो मनुष्य द्वेष नहीं करता और इच्छा नहीं करता, उसे नित्य सन्यासी जानना चाहिए। जो सुख-दुःखादि द्वंद्व से मुक्त है, वह सहज में बंधनों से छूट जाता है।

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाकेच पंडिताः समदर्शिनः।। (18)

विद्वान और विनयवान् ब्राह्मण में, गाय में, हाथी में, कुत्ते में और कुत्ते को खाने वाले मनुष्य में ज्ञानी समदृष्टि रखते हैं।

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।

निर्ममो निरहंकारः समुदुःखसुखःक्षमी।। (13)

सतुष्टःसततं योगी यतात्मा दृढ़निश्चयः।

मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः।। (14)

जो प्राणी मात्र के प्रति द्वेष रहित, सबका मित्र, दयावान, ममता रहित अहंकार रहित, सुख-दुःख में समान, क्षमावान, सदा संतोषी, योगयुक्त, इन्द्रिय निग्रही और दृढ़ निश्चयी है और मुझमें जिसने अपनी बुद्धि और मन अर्पण कर दिया है, ऐसा मेरा भक्त मुझे प्रिय है।

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकोन्नोद्विजते च यः।

हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ।। (15)

जिससे लोग उद्वेग नहीं हो पाते, जो लोगों से उद्वेग नहीं पाता, जो हर्ष, क्रोध, ईर्ष्या, भय, उद्वेग से मुक्त है, वह मुझे प्रिय है।

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्ययः।

सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्त स मे प्रियः।। (16)

जो इच्छा रहित है, पवित्र है, दक्ष (सावधान) है, तटस्थ चिंता रहित है, संकल्प मात्र का जिसने त्याग किया है वह मेरा भक्त है, वह मुझे प्रिय है।

यो न हृष्यति न द्वष्टि न शोचित न काङ्क्षति।

शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः।। (17)

जिसे हर्ष नहीं होता, जो द्वेष नहीं करता, जो चिंता नहीं करता, जो आशाएँ नहीं बाँधता, जो शुभाशुभ का त्याग करने वाला है, वह भक्ति परायण मुझे प्रिय है।

समः शत्रो व मित्रे च तथा मानापमानयोः।

शीतोष्णसुख-दुःखेषु, समः संगविवर्जितः।। (18)

तुल्यनिन्दास्तुतिमौनी संतुष्टौ येन केनचित्।

अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः।। (19)

शत्रु-मित्र, मान-अपमान, शीत-उष्ण, सुख-दुःख इन सब में जो समतावान् है, जिसने आसक्ति छोड़ दी है, जो निंदा और स्तुति में समान भाव से बर्तता है और मौन धारण करता है, चाहे जो मिले उससे उसे संतोष है, जिसका कोई अपना निजी स्थान नहीं है जो स्थिर चित्त वाला है, ऐसा मुनि भक्त मुझे प्रिय है।

श्रामण्य की पूर्णता

दंसणणाणचरित्तेसु तीसु जुगवं समुट्ठिटदो जो दु।
एयग्गगदो त्ति मदो सामण्णं तस्स पडिपुण्णं।। (242) प्र.सार

He, who is simultaneously applied to (the clutivation of) the trio of right faith knowledge and conduct is said to have attained concentration; and he has perfect asceticism.

जो भाव-कर्म रागादि द्रव्यकर्म ज्ञानावरणादि, नोकर्म शरीरादि इनसे भिन्न है तथा अपने सिवाय शेष जीव तथा पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल इन सब द्रव्यों से भी भिन्न है, और जो स्वभाव ही से शुद्ध, नित्य आनंदमयी एक स्वभाव है, 'वही मेरा आत्मद्रव्य है, वही मुझे ग्रहण करना चाहिए' ऐसी रूचि होना ही सम्यग्दर्शन है, उसी निज स्वरूप की यथार्थ पहचान होना सो सम्यग्ज्ञान है तथा उसी ही आत्मस्वरूप में निश्चल अनुभूति सो सम्यक् चरित्र है। जैसे शर्बत अनेक पदार्थों से बना है इसलिए अनेक रूप है, परंतु अभेद करके एक शर्बत है। ऐसे ही विकल्प सहित अवस्था में व्यवहारनय से उक्त स्वरूप वाले सम्यक्दर्शन ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीन हैं, परंतु विकल्प रहित समाधि के काल में निश्चयनय से इनको एकाग्र कहते हैं। यह जो स्वरूप में एकाग्रता है या तन्मयता है इसी को दूसरे नाम से परम साम्य कहते हैं। इसी परम साम्य का अन्य पर्याय नाम शुद्धोपयोग लक्षण श्रमणपना है या दूसरा नाम मोक्षमार्ग है, ऐसा जानना चाहिए। इसी मोक्षमार्ग का जब भेद रूप पर्याय की प्रधानता से अर्थात् व्यवहारनय से निर्णय करते हैं तब यह कहते हैं कि सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र रूप मोक्षमार्ग है। जब अभेदपने से द्रव्य की मुख्यता से या निश्चयनय से निर्णय करते हैं तब कहते हैं कि एकाग्रता मोक्षमार्ग है। सर्व ही पदार्थ इस जगत् में भेद और अभेद स्वरूप हैं। इस तरह मोक्षमार्ग भी निश्चय व्यवहार रूप से दो प्रकार है, इन दोनों का एक साथ निर्णय प्रमाण ज्ञान से होता है, यह भाव है।

समीक्षा– जिस प्रकार कपूर, अजवाइन सत्व और पीपरमेंट तीनों जब पूर्ण रूप से घुलकर तरल रूप में परिणमन कर लेते हैं तब अमृत धारा बनती है। इसी प्रकार जब जिसके सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र तीनों एकाग्र हो जाते हैं, अभेद हो जाते हैं वे ही पूर्ण श्रमण हैं। जिस प्रकार आटा, पानी, आग जब तीनों अलग-अलग होते हैं

तब पूर्ण रोटी नहीं बनती है। परंतु जब तीनों का सम्यक् समवाय होता है तब रोटी की पूर्णता होती है। इस प्रकार सम्यक्दर्शन, ज्ञान तथा चारित्र तीनों अलग-अलग रहते हैं तब मोक्षमार्ग प्रारंभ नहीं होता है जब तीनों मिलते हैं तब मोक्षमार्ग प्रांरभ होता है। परंतु वही जब पूर्ण अभेद बन जाते है जिसे अभेद रत्नत्रय कहते है तब मोक्ष हो जाता है जिससे सिद्ध होता है कि भेद रूप में जब रत्नत्रय रहते है तब साधन रूप होते है एवं जब रत्नत्रय अभेद रूप हो जाते हैं तब साध्य बन जाते हैं। इसलिए भेद रत्नत्रय के धारी श्रमण साधक है, मोक्षमार्गी है तथा अभेद रत्नत्रय के धारी श्रमण सिद्ध है, शुद्ध है, मोक्ष है। उत्तराध्ययन में कहा भी है-

नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।
एस मग्गो त्ति पन्नतो, जिणेहिं वरदंसिहिं।। (2)

वरदर्शी सत्य के सम्यग्दृष्टा जिनवरों ने ज्ञान, दर्शन, चरित्र और तप को मोक्ष का मार्ग बतलाया है।

नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।
एयं मग्गमणुपत्ता, जीवा गच्छन्ति सोग्गई।। (3)

ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप के मार्ग पर आरूढ़ हुए जीव सद्गति को, पवित्र स्थिति को प्राप्त करते हैं।

मूलाचार में कहा भी है-

सम्मत्तणाणसंजमतवेहिं जं तं पसत्थसमगमणं।
समयंतु तं तु भणिदं तमेव सामाइयं जाण।। (519)

सम्यग्दर्शन, ज्ञान, संयम और तप के साथ जो प्रशस्त समागम है वह समय कहा गया है, तुम उसे ही सामायिक जानो।

जिदउवसग्गपरिसह उवजुत्तो भावणासु समिदीसु।
जमणियमउज्जद मदी सामाइयपरिणदो जीवो।। (520)

जिन्होंने उपसर्ग और परिषह को जीत लिया है, जो भावना और समितियों में उपयुक्त है, यम और नियम में उद्यमशील है, वे जीव सामयिक से परिणत हैं।

जं च समो अप्पाणं परे य मादूय सव्वमहिलासुं।
अप्पियपियमाणादिसु तो समणो तो य सामइय।। (521)

जिस कारण से अपने और पर में, माता और सर्व महिलाओं में, अप्रिय और प्रिय तथा मान और अपमान आदि में समान भाव होता है इसी कारण से वे श्रमण है और इसी से वे सामायिक है।

जो द्रव्यों के, गुणों के और पर्यायों के समवाय को और सद्भाव को जानता है उसके उत्तम सामायिक सिद्ध हुई ऐसा तुम जानो।

रागदोसे णिरोहित्ता समदा सव्वकम्मसु।
सुत्तेसु य परिणामो समाइयमुत्तमं जाणे।। (523)

राग-द्वेष का निरोध करके सभी कार्यों में समता भाव होना, और सूत्रों में परिणाम होना इनको तुम उत्तम सामायिक जानो।

विरदो सव्वसाव्वजं तिगुत्तो पिहिदिंदिओ।
जीवो सामाइयं णाम संजमट्ठाणमुत्तमं।। (524)

सर्व सावद्य से विरत, तीन गुप्ति से गुप्त, जितेन्द्रिय जीव संयम स्थान रूप उत्तम सामायिक नाम को प्राप्त होता है।

जिसकी आत्मा संयम, नियम और तप में स्थित है उसके सामायिक रहता है ऐसा केवली के शासन में कहा गया है।

जो समो सव्वभूदेसु तसेसु थावरेसु य।
तस्स सामायियं ठादि इदि केवलिसासणे।। (526)

सभी प्राणियों में, त्रसों में और स्थावरों में जो समभावी हैं उसके सामायिक होता है ऐसा केवली भगवान् के शासन में कहा है।

जस्स रागो ये दोसो य वियडिंण जंणेति दु।...तस्स सामयियं।। (527)
जेण कोधो या माणो य माया लोभे य णिज्जिदो।।...तस्स समायियं।। (528)

जिस जीव के राग और द्वेष विकार को उत्पन्न नहीं करते हैं उनके सामायिक होता है ऐसा जिनशासन में कहा हैं। जिन्होंने क्रोध, मान, माया और लाभ को जीत लिया है उनके सामायिक होता है ऐसा जिनशासन में कहा है।

जस्स सण्णा य लेस्सा य वियडिं ण जणंति दु।
तस्स सामायियं ठादि इदि केवलिसासणे।। (529)

जिनकी संज्ञाएँ और लेश्याएँ विकार को उत्पन्न नहीं करती उनके सामायिक होता है ऐसा जिनशासन में कहा है। जो मुनि रस और स्पर्श इन काम को नित्य ही छोड़ देते हैं उनके सामायिक होता है ऐसा जिनशासन मे कहा है। जो रूप, गंध और शब्द इन भोगों को नित्य ही छोड़ देता है उनके सामायिक होता है ऐसा जिनशासन में कहा है। जो आर्त रौद्र ध्यान का नित्य ही त्याग करते है उनके सामायिक होता है ऐसा जिनशासन में कहा है। जो धर्म और शुक्ल ध्यान को नित्य ही ध्याते है उनके सामायिक होता है। ऐसा जिनशासन में कहा है।

सावज्जजोगपरिवज्जणट्ठं सामाइयं केवलिहिं पसत्थं।
गिहत्थधम्मोऽपरमत्त णिच्चा कुज्जा बुधो अप्पाहियं पसत्थं।। (532)

सावद्य योग का त्याग करने के लिए केवली भगवान् ने सामायिक कहा है। गृहस्थ धर्म जघन्य है, ऐसा जानकर विद्वान प्रशस्त आत्महित को करे।

सामायिक करते समय जिससे श्रावक भी श्रमण हो जाता है इससे तो बहुत बार सामायिक करना चाहिए।

सामाइए कदे सावएण विद्वो मओ अरणह्मि।
सो य मओ उद्धादो ण य सो सामाइयं फिडिओ।। (534)

कोई श्रावक सामायिक कर रहा होता है। उस समय वन में कोई हरिण बाणों से बिद्ध हुआ आया और मर गया किन्तु उस श्रावक ने सामायिक भंग नहीं किया।

मोह राग द्वेष वाला श्रमण नहीं

मुज्झादि वा रज्जदि वा दुस्सदि वा दव्वमण्णमासेज्ज।
जदि समणो अण्णाणी बज्झदि कम्मेहिं विविहेहिं।। (243) प्र. सार

जो निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञान से एकाग्र होकर अपने आत्मा को नहीं अनुभव करता है उसका चित्त बाहर के पदार्थों में जाता है तब चिन्दानन्दमई एक अपने आत्मा के निज स्वभाव से च्युत हो जाता है फिर राग-द्वेष-मोह भावों से परिणमन करता हुआ नाना प्रकार कर्मों को बाँधता है। इस कारण मोक्षार्थी पुरुषों को चाहिए कि एकाग्रता के द्वारा अपने आत्म स्वरूप की भावना करे। यह तात्पर्य है।

समीक्षा-अभी तक अनेक प्रकरण में यह निश्चित किया गया है जो किसी से भी प्रभावित न होकर स्व-आत्म-स्वरूप में स्थित रहता है वही श्रमण है। इससे सिद्ध होता है कि राग-द्वेषादि विषम भावों से युक्त होता है वह श्रमण नहीं है समता में रहने से यदि कर्म नहीं बंधता है तो विषमता उसके विपरीत भाव होने के कारण विषमता से अवश्य कर्म बंधेगा। इस प्रकार समता एवं विषमता के गुण-दोष जानकर समता का ही अवलंबन लेना चाहिए। परमात्म प्रकाश में कहा भी है-

जावँइ णाणिउ उवसमइ तामइ संजदु होइ।
होइ कसायँ वसि गयउ जीउ असंजुद सो।।

जिस समय ज्ञानी जीव शांतभाव को धारण करता है, उस समय संयमी होता है तथा जब क्रोधादि कषायों के अधीन हुआ वही जीव असंयमी होता है।

चेल्ला-चेल्ली पुत्थव्यहिं तूसइ मूढ़ णिभंतु।
एयहिं लज्जइ णाणियउ बंधहँ हेउ मुणंतु।।

अज्ञानी चेला-चेली पुस्तकादिक से हर्षित होता है, इसमें कुछ संदेह नहीं है, और ज्ञानी जन इन बाह्य पदार्थों से शर्माता है, क्योंकि इन सबो को बंध का कारण जानता है।

चट्टहिँ पट्टहिँ कुँडियाहिँ चेल्ला चेल्लियएहिँ।
मोहु जणेविणु मुणिवरहँ उप्पहि पाडिय तेहिँ।। (89)

पिच्छी, कमंडल पुस्तक और मुनि श्रावक रूप चेला, अर्जिका श्राविका इत्यादि चेली-ये संघ मुनिवरों को मोह उत्पन्न कराके वे उन्मार्ग में (खोटे मार्ग में) डाल देते हैं।

जिस किसी ने जिनवर का भेष धारण करके भस्म से सिर के केशलोंच किये, लेकिन सब परिग्रह नहीं छोड़े, उसने अपनी आत्मा को ही ठग लिया।

जे जिण लिंगु धरेवि मुणि इट्ठ-परिग्गह लेंति।
छद्दि करेविणु ते जि जिय सा पुणु छद्दि गिलंति।।(91)

जो मुनि जिनलिंग को ग्रहण कर फिर भी इच्छित परिग्रहों को ग्रहण करते हैं, हे जीव, वे ही वमन करके फिर उस वमन को पीछे निगलते हैं।

वास्तविक स्व परिचय v/s
अवास्तविक विभाव रूप

(अहं) (मैं) स्वपरिचय तो 'अहंकार' 'ममकार' विभाव रूप)
(विभाव व परभाव से शून्य व स्वभाव ही स्व परिचय)

(चालः- (1) आत्मशक्ति....(2) क्या मिलिए....) - आचार्य कनकनन्दी

जिस को जिस का होता परिज्ञान, वह न पूछता स्व परिचय।
जिस को न होता जिसका परिज्ञान, वह पूछता उसका परिचय।।
जिस को निज का होता परिज्ञान, वह न पूछता स्व परिचय।
जिसको न होता निज परिज्ञान, वह पूछता है स्व परिचय।। (1)

जिसे होता है आत्मविश्वास, मैं हूँ सच्चिदानन्द जीव अमूर्तिक।
उसे होता है स्व आत्म ज्ञान, स्व परिचय हेतु उसे न चाहिए अन्य।।
तन मन इन्द्रिय भी न स्व परिचय, माता पिता भाई बन्धु न स्व परिचय।
सत्ता सम्पत्ति प्रसिद्धि डिग्री भी, नहीं स्वपरिचय जाति भाषादि।। (2)

जलपय ज्यों जिय तन मेला, पै भिन्न-भिन्न नहिं भेला।
तो प्रकट जुदे धन धामा, क्यों ह्वे इक मिली सुत रामा।। (छ.ढ़ा.)
ये सभी कर्मज न पर संयोग जन्य, नहीं ''सद्दयलक्षणं'' प्रमाण।
ये न स्वभावमय अनादि अनन्त भाव, यथा बादल नीलादि न आकाश भाव।। (3)

किन्तु कुज्ञानी मोही न जानते सत्य असत्य, उन्हें न होता आत्मविश्वास ज्ञान।
हिताहित विवेक ग्राह्य अग्राह्य शून्य, परपरिणती व विभाव में तल्लीन।।
इसे ही कहते हैं मोह माया मिथ्यात्व, 'अहंकार' 'ममकार' 'मिथ्या, विभाव।
अनध्यवसाय, पंद्रहप्रमाद पाप स्थान, पंच पाप, आर्तध्यान, रौद्रध्यान।। (4)

इससे ही जीव संसार भ्रमण करते, चौरासी लक्ष योनियों में भ्रमते।
प्राप्त योनियों को ही स्वरूप मानते; उसके योग्य परिचय को स्व मानते।।
किन्तु जब होता आत्म श्रद्धान ज्ञान; विभाव पर से स्व को माने भिन्न।
यथा प्रकाश से अन्धेरा होता विलीन, दिखाई देते पदार्थ दृश्यमान।। (5)

तब होता स्वभाव परे अन्य परिचय शून्य, स्व परिचय माने अनन्त गुण गण।
स्वभाव प्राप्ति हेतु करे पुरुषार्थ महान्, इस हेतु त्याग करे परिग्रह सम्पूर्ण।
ज्ञान ध्यान में हो जाते लवलीन, संकल्प-विकल्प व संक्लेश शून्य।
समस्त विभाव शून्य स्वभाव पूर्ण, अनन्त ज्ञान दर्शन सुखवीर्य पूर्ण।। (6)

मैं साध्य साधक मैं अबाधक, कर्म अरु तसु फलनितै।
चित् पिंड चंड अखण्ड सुगुण करंड़ च्युत पुनि कल नितै।। (छ. ढ़ा)
''शुद्धोऽहं''''बुद्धोऽहं'' स्वपरिचय तो ''अहंकार''''ममकार'' विभाव रूप।
तन मन धनादि भी अवास्तविक रूप, अनन्त ज्ञान दर्शनादि वास्तविक रूप।।

मैं न आचार्य मैं न उपाध्याय, मैं न श्रमण तथाहि श्रावक।
मैं तो मार्गणा गुणस्थान परे हूँ, ''सव्वेसुद्धा हु सुद्धणया'' से।।
पंथमत जाति परम्परा पट्टादि परे, मेरा परिचय है उपाधि शून्य।
ये सभी कर्मज या व्यवहार स्वरूप, 'अहमेक्को खलु सुद्ध' मेरा परिचय।।(8)

यह ही जीवों के स्वभाव-परिचय, इस हेतु न चाहिए अन्य परिचय।
अद्वितीय अनुपम स्वयंभू सम्पूर्ण, यह ही 'सूरी कनक' का स्व परिचय।।
ग.पु. कॉ. दि. 24.5.2020 रात्रि 10.34
संदर्भ

आत्मस्वरूप एवं परस्वरूप

एकोऽहं निर्ममः शुद्धो ज्ञानी योगीन्द्र गोचरः।
बाह्याः संयोगजा भावा मत्तः सर्वेऽपि सर्वथा।। (27) इष्टों

I am, one i am without delusion. I am the knower of things. I am knowable by master ascetrics; all other conditions that arise by the union of the not-self are froeign to my nature in every way!

द्रव्यार्थिक नय से मैं एक हूँ, मैं ही पूर्वपरावस्थाओं में अनुश्रुत रूप में रहने के कारण मैं एक हूँ यह मेरा है, मैं इसका हूँ इसी प्रकार अभिप्राय से शून्य होने के कारण निर्मम हूँ। शुद्ध नय की अपेक्षा द्रव्य कर्म, भाव कर्म से निर्मुक्त होने के कारण मैं शुद्ध हूँ। स्व-पर प्रकाश होने के कारण मैं ज्ञानी हूँ। अनन्त पर्यायों को युगपत् जानने वाले केवलज्ञानी और श्रुतकेवली के शुद्धउपयोग स्वरूप ज्ञान का विषय हूँ। मैं स्वसंवेद्य के

द्वारा जानने योग्य हूँ। जो द्रव्यकर्म के सम्बन्ध से प्राप्त भाव तथा देह आदि है वे सर्व मेरे से सर्वथा सर्व प्रकार से बाह्य है, भिन्न है।

समीक्षा- इस श्लोक में आचार्य श्री स्वयं को अनुभव करने के/ध्यान करने के/प्राप्त करने के कुछ उपाय बताते हैं। भले व्यवहार नय से द्रव्य कर्म आदि के संयोग से जीव में विभिन्न वैभाविक भाव तथा शरीर आदि पाये जाते हैं तथापि शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से यह आत्मा के स्वभाव नहीं है। से सब पर संयोजक अशुद्ध भाव है। आचार्य कुन्दकुन्द देव ने समयसार में कहा भी है।

अहमिक्को खलु सुद्धो णिम्मओ णाणदंसणमग्गो।
तह्मि ठिओ तच्चित्तो सेस सव्वे खय णेमि(73)

टीका-यह मैं आत्मा हूँ सो प्रत्यक्ष अखंड, अनंत, चैतन्य मात्र ज्योति हूँ अनादि अनंत, नित्य उदयरूप, विज्ञानघन स्वभाव रूप से एक हूँ और समस्त कर्ता कर्म, करण, सम्प्रदान, आदान, अधिकरण स्वरूप जो कारको का समूह उसकी प्रक्रिया से पार उतरा दूरवर्ती निर्मल, चैतन्य अनुभूति मात्र रूप से शुद्ध है। जिनका द्रव्य स्वामी है ऐसे जो क्रोधादि भाव उनकी विश्व रूपता (समस्तरूपता) उनका स्वामित्व से सदा ही अपने नहीं परिणमने के कारण उनसे ममता रहित हूँ। तथा वस्तु का स्वभाव सामान्य विशेष स्वरूप है इसीलिए, चैतन्यमात्र तेज पुंज भी वस्तु है इस कारण सामान्य विशेष स्वरूप जो ज्ञानदर्शन उनसे पूर्ण हूँ। ऐसा आकाशादि द्रव्य की तरह परमार्थ स्वरूप वस्तु विशेष हूँ। इसलिए मैं इसी आत्मस्वभाव में समस्त पर द्रव्य से प्रवृत्ति की निवृत्ति करके निश्चल स्थित हुआ समस्त परद्रव्य के निमित्त से जो विशेष रूप चैतन्य में चंचल कल्लोले होती थी, उनके विरोध से इस चैतन्य स्वरूप को ही अनुभव करता हुआ अपने ही अज्ञान से आत्मा में उत्पन्न क्रोधादिक भावों का क्षय करता हूँ ऐसा आत्मा में निश्चय कर तथा जैसे बहुत काल का ग्रहण किया जो जहाज या वह जिसने छोड़ दिया है, ऐसे समुद्र के भंवर की तरह शीघ्र ही दूर किये हैं समस्त विकल्प जिसने, ऐसा निर्विकल्प, अचलित निर्मल आत्मा को अवलम्बन करता विज्ञानघन होता हुआ यह आत्मा आस्रवों से निवृत्त होता है।

आदिमध्यान्तहीनोऽहमाकाशसदृशोऽस्म्यहम्।
आत्मचैतन्यरूपोऽह महामानंदचिद्धनः।

आनन्दामृतरूपोऽहमात्मसंस्भोऽहगन्तरः
आत्माकामोहमाकाशात्परमात्मेश्वरोऽस्म्यहम्।।92।

ईशानोऽस्म्यह मीङ योऽहमनुत्रमपुरुषः।
उत्कृष्टोऽहमुपद्रष्टाद्रहनुतरोऽस्म्यहम्।93।

केवलोऽहं कविः कर्माध्यक्षोऽहं करणाधियः।
गृहाशयोऽहं गोप्ताऽहं चक्षुषश्रक्षुरस्म्यहम्।94।

चिदानन्दोऽस्म्यहं चेताश्रिद्घनरिन्मयोऽस्म्यहम्।
ज्योतिर्मयाऽस्म्यहंज्यायान् ज्योतिषांज्योतिरम्यहम्।951 उपनिषद

मैं आदि मध्य और अन्त से रहित हूँ आकाश के सदृश हूँ, मैं आत्म चैतन्य रूप हूँ, आनन्द चेतन घन हूँ। मैं आनन्दामृत रूप हूँ, आत्म संस्थित हूँ, अन्तर हूँ, आत्मा काम हूँ और आकाश में परमात्मा परमेश्वर स्वरूप हूँ। मैं ईशान हूँ, पूज्य हूँ, उत्तम पुरूष हूँ, उत्कृष्ट हूँ, उपदृष्टा हूँ और पर से भी परे हूँ । मैं केवल हूँ, कवि हूँ, कर्माध्यक्ष हूँ, कारण का अधिपति हूँ, मैं गुप्त आशय हूँ, गुप्त रखने वाला हूँ और नेत्रों का नेत्र हूँ, मैं चिदानन्द हूँ, चेतना देने वाला हूँ, चिद्घन और चिन्मय हूँ, मैं ज्योतिर्मय हूँ, और मैं ज्योतियों में श्रेष्ठ ज्योति हूँ।

अणोरणीयान तद्वन् महानंद विश्रमिदं विचित्रम्।
पुरातनोऽहं पूरीषोऽहमीशो हिरण्ययोऽहं शिवरूपमस्मि।।20।।

अपाणिपादोऽहमचिन्त्यशक्तिःपच्याम्यचक्षु च श्रृणोम्यकर्णः।
अहं विजानामि विविक्तरूपो न चास्ति वेत्ता मम चित्त सदाहम्।(21)
वैदैरनकैरहमेव वैद्यो वेदान्मकृद्वेदविवेदव चाहम्।(22)

न पुण्यपापे मम नास्ति नाशोन जन्म देहेन्द्रिय बुद्धिरस्ति।
न भूमिरापो ममवहिरस्ति न चानिलो मेऽस्ति च चाम्बरं च।(23)

मैं छोटे से भी छोटा और बड़े से भी बड़ा हूँ। इन अद्भुत संसार को मेरा ही स्वरूप मानना चाहिए। मैं ही विश्व और ब्रह्मा का स्वरूप हूँ। मैं ही परमात्मा और विराट पुरुष हूँ। वह शक्ति जिसके न हाथ-पैर हैं और न जिसके सम्बन्ध में चिन्तन किया जा सकता है, वह परब्रह्म मैं ही हूँ। सर्वदा चित्त स्वरूप रहता हूँ मुझे कोई जान

और समझ नहीं सकता, मैं बुद्धि के बिना ही सब कुछ जानने, स्थूल कानों के बिना सब कुछ सुनने और स्थूल आँखो के बिना सब कुछ देखने की सामर्थ्य रखता हँ। मैं ही वेद का उपदेश करता हूँ, मैने ही वेदान्त की रचना की है और सारे वेद मेरे ही सम्बन्ध में चर्चा करते हैं मैं जन्म और नाम से परे हूँ। पाप और पुण्य मुझे छू नहीं सकते। मैं शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियों से रहित हूँ। मेरे भूमि, जल, अग्नि, वायु और आकाश कुछ सम्बन्धि नहीं है।

त्यक्त्वा लोकांश्य वेदांश्च विषयाणीन्द्रियाणि च
आमन्येव स्थितो यस्तु स याति परमां गतिम्।(1)

नामगोत्रादिवरणं देश काल श्रुतं कुलम्।
वयो व्रतं व्रतंशील ख्यायन्नैव सद्यतिः।(2)

न संभाषोत्स्त्रियं काचित्पूर्वदृष्टां च न स्मरेत्।
कथां च वर्जयेत्तासां न पश्चयेयल्लिखितामपि।(3)
एतच्चतुष्टयं मोहात्स्त्रीणामजरतो यतेः।
चित्तं विक्रि यतेऽवश्यं यद्धिकारात्प्रणश्यति।(4)

तृष्णां क्रोधाऽनृतं माया लोभमोही प्रियाप्रिये।
अहंकारो मत्वं च चिकित्सा धर्मसाहसम्।(5)
प्रायश्चित्तं प्रवासश्च मन्त्रौषधगराशिषः।
प्रतिषिद्धानि चैतानि सेवमानो व्रजेदधः।(6)

आगच्छ गच्छ तिष्ठेति स्वागतं सुह्यदोऽपि वा।
समाननं च न ब्रूयान्मुनिर्मोक्षपरायणः।(7)

प्रतिग्रहं न गृह्णीन्नैव चान्यं प्रदापयेत्।
प्रेरयेद्धा तथा भिक्षुः स्वप्नेऽपि न कदाचन।(8)

ज्यायाभ्रातृसुतादीनां बन्धूनां च शमाशुभम्।
श्रुत्वा दृष्ट्वा न कम्पेत शोकमीही त्यजेद्यतिः।(9)

अहिंसा सत्यमस्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः।
अनौद्धत्यमदीनत्वं प्रसादा स्थैर्यमार्जवम्।(10)

अस्नेहो गुरुशुश्रुषा श्रद्धा क्षान्तिर्दमः शमः।
उपेक्षा धैर्यमाधुर्ये तितिक्षा करूणा तथा।(11)
ह्रीस्तथा ज्ञानविज्ञाने योगा लध्वशनं धृतिः।
एष स्वधर्मो विख्यातो यतीनां नियतात्मनाम्।(12)

जो संन्यासी लोक, वेद, विषयों के भोग और इन्द्रियों का आश्रय छोड़कर आत्म स्थित रहता है वह परम गति को पाता है। सन्यासी अपने नाम, गोत्र, कुल, देश-काल, अवस्था, शील, व्रत, शास्त्र,-ज्ञान आदि के सम्बन्ध में किसी से वार्ता न करे। किसी स्त्री से बात न करे, पूर्व परिचित स्त्री का स्मरण न करे, स्त्रियों के चित्रों को भी न देखे तथा स्त्रियों से सम्बन्धित चर्चा न सुने। क्योंकि स्त्री सम्बन्धी चर्चा, उनका स्मरण, चित्तावलोकन तथा संभाषण आदि से मन में विकार की उत्पत्ति होती है और वह उसकी योग भ्रष्टता का कारण होता है। संयासियों के लिए मोह-ममता, माया-लोभ, तृष्णा, क्रोध, असत्य, राग, अहंकार भावना, संग्रह व्याख्यान, शिल्प, चिकित्साव्यवसाय, परगृह निवास, प्रायश्चित्त, औषधि वितरण,मंत्र प्रयोग, धर्मार्थ साहसिक कार्य, आशीर्वाद देना आदि कर्म निषिद्ध हैं। जो ऐसा करता है वह अपने धर्म से पतित होता है। मुमुक्षु संयासी अपने किसी सहृद् जन का भी स्वागत, सन्मान न करे और न उसे अपने पास ठहरावे। किसी का दिया हुआ दान न ले। किसी दूसरे को भी न दिलावे। किसी को दान देने या लेने की भी प्रेरणा न करे। स्त्री-पुरुष आदि किसी भी प्रियजन के शुभ या अशुभ समाचार को देख-सुनकर कभी विचलित न हो, हर्ष-शोक का सर्वथा त्याग करे। अहिंसा भाव, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह,, अनौद्धत्य शान्ति, प्रसन्नता, स्थिरता, सरलता, स्नेहभाव, गुरु-सेवा, श्रद्धा, क्षमा, इन्द्रियनिग्रह, मनोनिग्रह, उदासीनता, धीरता, मधुरता, सहन-शीलता, करूणा, लज्जा, धारणा, स्वल्पाहार और ज्ञान-विज्ञान-परायणता-संयासी के लिए यह धर्मरूप से पालनीय है।

दुःखदायी देह त्यजनीय

दुःखसंदोहभागित्वं संयोगादिह देहिनाम्।
त्याजम्येनं ततः सर्व मनोवाक्काय कर्मभिः।(28)

The souls invileved in transmigration have to suffer a multitude of affications, owing to the asscociation of the not self. the body and the like: therefore, I (Shall) renounce then along with all the activities of the mind, the body and speech!

''स्वबुद्धया यत्तु गृह्णीयात्कायवाक्चेतसां त्रयम्।
संसारसतावेदेतेषां, तदाभ्यासेन निवृत्तिः'' ।। (62)- समाधिशतकम्)

पुनः भावक यह विमर्श अनुसंधान करता है कि संयोग से देहादि संबन्ध से जीवों को क्या फल मिलता है ? यहाँ पर स्वयमेव समाधान करते हैं-

देहादि संबन्ध से संसारी जीव दुःखों के समूहों को भोगता है। इसलिये समस्त संयोगों को मैं सम्पूर्ण रूप से त्याग करता हूँ। मन, वचन, काय के कर्म से मनोवर्गणा के अवलम्बन से आत्म प्रदेशों में परिस्पन्दन होता है। इस से कर्मास्रव होता है। अतएव मन-वचन-काय के परिस्पन्द को भाव से निरोध करना चाहिए। अतः उसके भेदाभेद अभ्यास के द्वारा सुख-दुःखरूप फल की निवृत्ति का आश्रय लेना चाहिए।

प्रकृत ग्रन्थकर्त्ता पूज्यापादाचार्य देवनन्दी ने समाधिशतक में कहा भी हैं-

जब तक अपनी बुद्धि से अपने काय, वचन और मन इन तीनों को यह जीव ग्रहण करता है तब तक इन जीवों का संसार रहता है और इसके भेद-विज्ञान से मुक्ति मिलती है।

समीक्षा- इस श्लोक में आचार्य श्री ने कर्मास्रव, दुःखों के कारण तथा संवर के कारण का वर्णन किया है। तत्वार्थ सूत्र में कहा भी है-

कायवाङ् मनः कर्मयोगः। (1)

काय, वचन और मन की क्रिया योग है।

इस विश्व में कार्माण वर्गणा ठसाठस भरी हुई है। उसमें कर्मरूप परिणमन करने की योग्यता भी है। परन्तु जब तक जीव के योग एवं उपयोग का निमित्त नहीं मिलता है तब तक कर्म वर्गणा आकर्षित होकर जीव में आकर नहीं मिलती है। इसलिये आस्रव तत्त्व का वर्णन करने के पहले ही योग का वर्णन किया गया हैं क्योंकि योग से आस्रव होता है।

काय, वचन और मन की क्रिया को योग कहते हैं। इस क्रिया से आत्मा के प्रदेशों का परिस्पन्दन हलन-चलन ही योग है। वह निमित्तों के भेद से तीन प्रकार का है- काययोग, वचनयोग, और मनोयोग।।

(1) काययोगः- वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम के होने पर औदारिक आदि सात प्रकार की कायवर्गणाओं में से किसी एक प्रकार की वर्गणाओं के अवलम्बन से होने वाला आत्मप्रदेश परिस्पन्द काययोग कहलाता है।

(2) वचनयोगः- शरीर नामकर्म के उदय से प्राप्त हुई वचन वर्गणाओं का अवलम्बन होने पर तथा वीर्यान्तराय और मत्यक्षरादिआवरण के क्षयोपशम से प्राप्त हुई भीतरी वचनलब्धि के मिलने पर वचन रूप पर्याय के सन्मुख हुए आत्मा के होने वाला प्रदेश परिस्पन्द वचनयोग कहलाता है।

(3) मनोयोगः- वीर्यान्तराय और नो इन्द्रियावरण के क्षयोपशमरूप आन्तरिक मनोलब्धि के होने पर तथा बाहरी निमित्त भूत मनो वर्गणाओं का अवलम्बन मिलने पर मनरूप पर्याय के सन्मुख हुए आत्मा के होने वाला प्रदेश परिस्पन्द मनोयोग कहलाता है।

वीर्यान्तराय और ज्ञानावरण कर्म के क्षय हो जाने पर भी सयोग केवली के जो तीन प्रकार की वर्गणाओं की अपेक्षा आत्म-प्रदेश परिस्पन्द होता है वह भी योग है ऐसा जानना चाहिए। गोम्मट्टसार में कहा भी हैं-

पुग्गल विवाइदेहोदयेण मणवयणकायजुत्तस्स।
जीवस्स जा हु सत्ती कम्मागमाकरणं जोगो।।216।।

पुद्गल विपाकी शरीर नाम कर्म के उदय से मन, वचन, काय से युक्त जीव की जो कर्मों के ग्रहण करने में कारणभूत शक्ति है उसको योग कहते हैं।

देहादयेण सहिओ जीवो आहरदि कम्म णोकम्मं।
पडिसमयं सव्वंगं तत्तयासपिंडओव्व जलं।। (3)

यह जीव औदारिक आदि शरीर नाम कर्म के उदय से योग सहित होकर ज्ञानावरणादि आठ कर्म रूप होने वाली कर्मवर्गणाओं को तथा औदारिक आदि चार शरीर (1) औदारिक (2) वैक्रियिक (3) आहारक (4) तैजस रूप होने वाली

नोकर्मवर्गणाओं को हर समय चारों तरफ से ग्रहण (अपने साथ सम्बद्ध) करता है। जैसे कि आग से तपा हुआ लोहे का गोला पानी को सब ओर से अपनी तरफ खींचता है।

यह जीव कर्म तथा नोकर्मरूप होने वाले कितने पुद्गल परमाणुओं को प्रतिसमय ग्रहण करता है सो बताते हैं,

सिद्धाणंतिमभागं अभव्वसिद्धादणंतगुणमेवः।
समयबद्धं बंधदि जोगवसादो दु विसरिदं।। (4)

यह आत्मा, सिद्ध जीवराशि के जो कि अनंतानंत प्रमाण कही है उसके वे भाग और अभव्य जीवराशि जो जघन्ययुक्तानन्त प्रमाण है उससे अनन्तगुणे समयप्रबद्ध को अर्थात् एक समय में बंधने वाले परमाणु समूह को बांधता है- अपने साथ संबद्ध करता है। परंतु मन, वचन, काय की प्रवृत्ति रूप योगों की विशेषता से (कमती बढ़ती होने से) भी थोड़े और कभी बहुत परमाणुओं का भी बंध करता है अर्थात् परिणामों में कषाय की अधिकता तथा मंदता होने पर आत्मा के प्रदेश जब अधिक वा कम संकपन (चलायमान) होते हैं तब कर्म परमाणु भी ज्यादा अथवा कम बंधते हैं जैसे अधिक चिकनी दिवाल पर धूलि अधिक लगती है और कम चिकनी पर कम।

आस्रव निरोधःसंवरः (1)

The obstuction at inbflu is stopage.

आस्रव का निरोध करना संवर है।

आस्रव के विपरीत तत्त्व संवर तत्त्व है। नूतन कर्म के आगमन को आस्रव कहते हैं तो उसके निरोध को संवर कहते हैं। यह संवर दो प्रकार का है। (1) भाव संवर, (2) द्रव्य संवर। जिस भाव से संसार का विच्छेद होता है या द्रव्य संवर के लिये जो मूल कारण है उसे भाव संवर कहते हैं।

इस भाव के द्वारा आगत कर्म परमाणुओं का निरोध हो जाना द्रव्य संवर है। जैसे-पानी में रहने वाले जहाज में छिद्र हो जाने पर उस छिद्र के माध्यम से पानी का आगमन उस जहाज में होता है। जब उस छिद्र को बंद कर दिया जाता है तब पानी आना रूक जाता है। थोड़ा-थोड़ा पानी निकालने पर पानी कम होता जाता है। इसी

प्रकार मिथ्यात्व आदि भावात्मक छेद से कर्मों का आगमन होना आस्रव है। आत्मा में कर्म का अवस्थान होना बंध है। मिथ्यात्वादि आस्रव को सम्यक्त्वादि भावों से रोकना भाव संवर है। इन भाव संवर से आगत कर्मों का रूक जाना द्रव्य संवर है। तपादि से एक देश कर्मों का क्षय करना निर्जरा है। रत्नत्रय से पूर्णकर्मों का क्षय करना मोक्ष है।

चेदणपरिणामो जो कम्मस्सासवणिरोहणे हेदू।
सो भावसंवरो खलु दव्वासवरोहणे अण्णो।। (34) द्र.स.

जो चेतन का परिणाम कर्म के आस्रव को रोकने में कारण है, उसको निश्चय से भाव संवर कहते हैं और जो द्रव्यास्रव को रोकने में कारण है सो दूसरा अर्थात् द्रव्यसंवर है।

संवर के कारण

सः गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरिषहजयचारित्रैः। (2)

Stoppage (is effected) by control carefulness, virtue contem(lation conquest buy endurance and conduct.

वह संवर, गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषहजय, चारित्र से होता है। द्रव्य संग्रह में कहा है।

वदसमिदीगुत्तीओ धम्माणुपेहा परिसह जओ य।
चारित्तं बहुभेया णायव्वा भावसंवर विसेसा। (35)

पाँच व्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति, दश धर्म, बारह अनुप्रेक्षा, बाईस परिषहों का जय तथा अनेक प्रकार का चारित्र इस प्रकार ये सब भाव संवर के भेद जानने चाहिये।

महर्षि कपिल ने जो भी सांख्य दर्शन में शरीर दुःख के लिए कारण बताया है। यथा-

समानंजरामरणादिज दुःखम्। (53)

किसी शरीर में हो, चाहे देवता हों, चाहे सामान्य मनुष्य अथवा पशु-पक्षी बुढ़ापे और मृत्यु का दुःख सब में होता है। इस कारण सब शरीरों की अपेक्षा मुक्त होना भी उत्तम है।

निर्भय (निशंक) भावना

न मे मृत्युः कुतो भीतिर्न मे व्यधिः कुतो व्यथा।
नाहं बालो न वृद्धोऽहं न युवैतानि पुद्गले। (29)

I am not subject to death; then, what should I fear death far? nor am I subject to discease, then what can cause me pain? I am not a child; I am not an oldman; nor am I a youth:all these appetain to the flesh (matter)!

पुनः उपर्युक्त विषय को विचार-विमर्श करते हैं। पुद्गल के साथ संयोग होने के कारण जन्म-मरण रोगादि सम्भव है। मरणादि से बाधा होती है। शिष्य को यह जिज्ञासा प्रगट होती हैं कि- किस भावना से मैं जन्म-मरणादि से उत्पन्न कष्ट को अभिभव को निवारण कर सकूँ? शिष्य इसका समाधान स्वयं करता है कि-

निश्चय से मेरा आत्म-स्वरूप चैतन्य शक्ति लक्षण वाला है और वह निश्चय प्राण कदापि मेरे से भिन्न नहीं हो सकता है, इसीलिये मेरा मरण संभव ही नहीं है। इसीलिये कृष्ण सर्प आदि से मैं क्यों भयभीत बनूँ ? वातादि दोष से उत्पन्न रोग मेरे में है ही नहीं है क्योंकि मैं अमूर्तिक हूँ और वातादि मूर्तिक है। इसलिये ज्वरादि विकार से मेरी व्यथा कैसे संभव है? बालादि अवस्था भी पौद्गलिक कर्म-जनित है, इसीलिये बालादि अवस्था से प्राप्त दुःख भी मेरा कैसे संभव है? तब मृत्यु-प्रभृति जो जीव की व्यावहरिक अवस्था देखी जाती है वह क्या है? इसका समाधान यह है कि - मृत्यु, व्याधि, बलादि है परन्तु मुझ में इसका होना अत्यन्त असंभव है। भावक भव्य पुनःपुनः स्वयं शंका समाधान करते हुए स्व शुद्ध स्वरूप तथा कर्मजनित देहादि के स्वरूप को विचार करके स्वः स्वरूप को प्राप्त करने का एवं पर स्वरूप को त्याग करने की भावना भाता है और तद्नुकूल पुरुषार्थ भी करता है।

समीक्षा :- सम्यग्दर्शन होते ही जीव को स्व-पर की प्रतीति/श्रद्धा हो जाती है और ज्ञान भी भेद विज्ञान स्वरूप सम्यग्ज्ञान हो जाता है। उसे यह ज्ञान एवं भान हो जाता है कि मैं समस्त द्रव्य कर्म-भाव कर्म-नो कर्म से रहित सच्चिदानंद स्वरूप अविनाशी परमात्मा हूँ। परन्तु कर्म वशात् जन्म, मृत्यु, रोग, व्याधि बलादि अवस्थाएँ होती है इसीलिये वह इन कर्मजनित अवस्थाओं से श्रद्धा रूप से अप्रभावित होता है।

अहमिक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइओ सदारूवी।
णवि अत्थि मज्झ किंचि वि अण्णं परमाणुमित्तपिं।।

ज्ञानी जीव का ऐसा विचार होता है कि मैं एकाकी शुद्ध हूँ अर्थात् परद्रव्य के संबंध से सर्वथा रहित हूँ, दर्शन-ज्ञानमयी हूँ और सदा अरूपी हूँ अतः इन सब बाह्य पर द्रव्यों में मेरा परमाणु मात्र भी नहीं है।

अरसमरूवमगंध अब्वंत्त चेदणागुणससद्दं।
जाण अलिंग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं।।

शुद्ध जीव तो ऐसा है कि जिस में न रस है, न रूप है, न गंध है और न इन्द्रियों के गोचर ही है। केवल चेतना गुण वाला है शब्दरूप भी नहीं है, जिसका किसी भी चिह्न द्वारा ग्रहण नहीं हो सकता, और जिसका कोई निश्चित आकार भी नहीं है।

णवि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणगो जो भावो।
एवं भणंति सुद्धा णादा जो सो दु सो चेव।।

जो प्रमत्त और अप्रमत इन दोनों अवस्थाओं से ऊपर उठकर केवल ज्ञायक स्वभाव को ग्रहण किये हुए हैं। वह शुद्धात्मा है ऐसा शुद्धनय के जानने वाले महापुरुष कहते हैं।

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णमविसेसं।
अपदेससुत्तमज्झं पस्सदि जिणसासणं सव्वं।।

जो आत्मा को अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, अविशेष आदि से अनुभव करता है वह द्रव्यश्रुत और भावश्रुतमय द्वादशांगरूप पूर्व जिन शासन कहा है।

जैन सिद्धांत के अनुसार हृदय कमल में आठ पाँखुडी के आकार का द्रव्यमन होता है और उस द्रव्यमन से शिक्षा, उपदेश, वचनादि का ग्राहक भाव मन होता है। वैसे तो एकेन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक में भी कुमति ज्ञान, कुश्रुत ज्ञान तथा आहार, निद्रा, भय, मैथुन आदि संज्ञाएँ होने के कारण उनमें भी कुछ क्रिया एवं प्रतिक्रिया होती है तथा वे भी सुख-दुःख अनुभव करते हैं तथापि जिस प्रकार संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव उपदेश को ग्रहण करता है शिक्षा को प्राप्त करता है, मनन करता है, चिंतन करता है, सम्यक्त्व को ग्रहण कर सकता है, संयम को धारण कर सकता है, मोक्ष को प्राप्त कर सकता है, उसी तरह अन्य जीव नहीं कर सकते हैं।

इस गाथा में चौदह जीवसमास का भी वर्णन किया गया है। यथा-

1. बादर एकेन्द्रिय, 2. सूक्ष्म एकेन्द्रिय, 3. द्वीन्द्रिय, 4. त्रीन्द्रिय 5. चतुरिन्द्रिय, 6. असंज्ञी पंचेन्द्रिय, 7. संज्ञी पंचेन्द्रिय। इन 7 के पर्याप्त एवं अपर्याप्त भेद होते हैं। इस कारण 7x2=14 जीवसमास हो जाते हैं।

आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा मन ये षट् पर्याप्ति हैं,इनमें से जो एकेन्द्रिय जीव है उनको तो केवल आहार, शरीर, एक स्पर्श इन्द्रिय तथा श्वासोच्छ्वास ये चार पर्याप्तियाँ होती हैं। संज्ञी पंचेन्द्रियों के चार ये पूर्वोक्त और भाषा तथ मन ये छहों पर्याप्तियाँ होती हैं और शेष जीवों के मन रहित पाँच पर्याप्तियाँ होती हैं। पर्याप्त अवस्था में संज्ञी पंचेन्द्रियों के 10 प्राण, असंज्ञी पंचेन्द्रियों के मन के बिना 9 प्राण, चौइन्द्रियों के मन और कर्ण के बिना 8 प्राण,तेइन्द्रियों के मन, कर्ण और चक्षु के बिना 7 प्राण, दोइन्द्रियों के मन, कर्ण, चक्षु और घ्राण के बिना 6 प्राण और एकेन्द्रियों के मन, कर्ण, चक्षु, घ्राण, रसना तथा वचनबल के बिना 4 प्राण होते हैं। अपर्याप्त अवस्था के धारक जीवों में संज्ञी तथा असंज्ञी इन दोनों पंचेन्द्रियों के श्वासोच्छ्वास वचन बल और मनोबल के बिना 7 प्राण होते हैं और चौइन्द्रिय आदि एकेन्द्रिय पर्यंत शेष जीवों के क्रमानुसार एक एक प्राण घटता हुआ है।

जीव का अशुद्ध एवं शुद्ध स्वरूप

मग्गणगुणठाणेहि य चउदसहि हवंति तह असुद्धणया।
विण्णेया संसारी सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया।। (13)

Again, according to inpure (Vyavahara) Naya ,Samsori jivas are of fourteen kinds according to Margana and Gunasthana, But according to pure naya, all jivas should understood to pure.

संसारी जीव अशुद्ध नय से चौदह मार्गणास्थानों से तथा चौदह गुणस्थानों से चौदह-चौदह प्रकार के होते हैं और शुद्धनय से तो सब संसारी जीव शुद्ध ही है।

शुद्ध निश्चय द्रव्यार्थिक नय से सिद्ध जीव तो शुद्ध हैं ही परंतु संसारी जीव भी शुद्ध हैं क्योंकि शुद्ध निश्चय द्रव्यार्थिक नय केवल शुद्ध द्रव्य का ही ग्रहण करता है पर मिश्र अवस्थाओं को ग्रहण नहीं करता है क्योंकि इस नय का प्रतिपादित विषय शुद्ध द्रव्य अवस्था में जीव के अनेक भेद प्रभेद हो जाते है क्योंकि संसारी जीव अनंतानंत

हैं और कर्म भी असंख्यात लोक-प्रमाण हैं। इस अपेक्षा से संसारी जीव के भी संख्यात, असंख्यात और अनंत भेद हो जाते हैं तथापि समझने के लिए एवं समझाने के लिए एक सुव्यस्थित प्रणाली को अपनाकर उसमें समस्त भेद प्रभेदों को गर्भित किया जाता है। इस गाथा में आचार्य श्री ने संसारी जीवों के वर्गीकरण को मुख्य दो भेदों से किया है। (1) मार्गणा स्थान, (2) गुणस्थान। मार्गणा स्थान के पुनः 14 अंतर्भेद हो जाते हैं और उस अंतर्भेदों में भी अनेक प्रभेद होते हैं इसी प्रकार गुणस्थान के 14 भेद होते हैं उन 14 भेद के भी अनेक प्रभेद हो जाते हैं।

जाहि व जासु व जीवा मग्गिज्जंते जहा तहा दिट्ठा।
ताओ चोद्दस जाणे सुण्णाणे मग्गणा होंति।।

जीव जिन भावों के द्वारा अथवा जिन पर्यायों में खोजे जाते हैं- अनुमार्गण किये जाते हैं, उन्हें मार्गणा कहते हैं। जीवों का अन्वेषण करने वाली ऐसाी मार्गणाएँ श्रुतज्ञान में चौदह कही गयी हैं।

बोध

एक होती है बुद्धि एक होती हैं समझ। बुद्धि शिक्षा का लक्ष्य हो गया। समझ तो मनुष्य के व्यक्तित्व का महत्वपूर्ण स्वरूप है। बुद्धिमान होना इस बात का प्रमाण नहीं हैं कि वह समझदार भी हैं। बुद्धि बन्धन के मार्ग खोलती है, समझ मुक्ति की ओर, शान्त जीवन की ओर ले जाती है। बुद्धि और मन एक नहीं हैं। बुद्धि सूर्य से पैदा होती है, उष्ण होती है, अहंकार का प्रतिबिम्ब है। मन चन्द्रमा का उत्पाद हैं, चन्द्रमा से पोषित है, शीतल स्नेहन-मृदुता का धरातल हैं।

प्रज्ञा का जागरण

मन के अनेक रूप हैं। हमारे तीन शरीर होते हैं-स्थूल, सूक्ष्म और कारण। अतः तीन ही हमारे मन होते हैं। जाग्रत, स्वप्न सुषुप्ति में ये कार्य करते हैं। इसी प्रकार एक मन इन्द्रिय-मन में हैं जो विषयों को लाता है। दूसरे सर्वेन्द्रिय मन तक। तीसरा महन्मन है जो महःलोक में प्रकृति के साथ, अहंकृति और आकृति सहित निर्मित होता हैं। कृष्ण कहते हैं गीता में 'मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भ दधाम्यहम्।' यही श्वोवसीयस मन/अव्यय मन (कृष्ण) जीवरूप धारण करते हैं। हृदय का निर्माण होता हैं। हृदय (ह्-द-य) ही ब्रह्मा विष्णु इन्द्र प्राण है जो सृष्टि के निमित्त कारण बनते हैं।

अवयव मन ज्ञान का क्षेत्र हैं। अक्षर प्राणों की सृष्टि का विस्तार ही क्षर अथवा स्थूल सृष्टि है। अव्यय मन ही सृष्टि कर्ता है और यही मुक्ति दाता भी है। संकल्प एवं अभ्यास का मार्ग बताते हैं कृष्ण अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्य न च गृह्यते।'

मन चंचल है, बार-बार इन्द्रियों के द्वारा विषयों से जुड़ता है, आसक्त होता है। इसे बलपूर्वक खींचा जाता हैं। मन को पुनः दूसरी ओर (मुक्ति) जाने के लिए हम बार-बार संकल्पित करते हैं। यह भी एक तरह का देवासुर संग्राम हैं जीवन का। यहां मन-बुद्धि का खेल समझा जा सकता है। दोनों ही त्रिगुणी हैं-सत्व, रज, तमस गुणों से प्रभावित होते हैं- इनको भी संकल्प और अभ्यास से बदला जा सकता हैं। इच्छाओं पर भी इनका प्रभाव पड़ता है। मन कुछ चाहता है, बुद्धि नियंत्रण बनाए रखने का प्रयास करती हैं। कहा जाता है विनाश काले विपरीत बुद्धि। तब मन की इच्छा दबकर रह जाती हैं। मन में जो इच्छा पूर्व कर्मों के फलरूप प्रकृति द्वारा पैदा की जाती है, उसे बुद्धि न तो समझ पाती हैं, न ही रोक सकती हैं। यह समझ पाने की क्षमता प्रज्ञा से आती हैं। ऋतंभरा तत्र प्रज्ञा। प्रज्ञा सूक्ष्म को समझ लेती हैं।

प्रज्ञा का जागरण अभ्यास से किया जा सकता है। ध्यान के माध्यम से, अनासक्त भाव से तथा बिना फल की कामना (वैराग्य) के कर्म करके प्रज्ञा के द्वार खोले जा सकते हैं। प्रज्ञा अक्षर सृष्टि के कार्यों का क्षेत्र हैं। मन का संकल्प यहां समाप्त प्राय हो जाता है। मन को एकाग्र करने की आगे वैसी आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि विषय की भक्ति से ही प्रज्ञा का जागरण होता है। बुद्धि से नहीं संभव है। भक्ति केवल मन-का-संकल्पित मन का क्षेत्र हैं। प्रज्ञा जाग्रत होने पर तो अभ्यास और संकल्प के पार ही जाता है व्यक्ति।

मन का केन्द्र भी मन ही हैं। कृष्ण अव्यय मन हैं और- 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति' गीता। आगे का सारा धरातल मन और प्रज्ञा का हैं-बोध का है। व्यक्ति प्रकृति के स्वरूप को समझ जाता है। स्वयं को प्रकृति के हवाले करके प्रकृति के प्रवाह से जुड़ जाता है। प्रज्ञा पुरुष की अपनी इच्छाएं, अपने संकल्प ठहर जाते हैं। वह मुक्त हो जाता है। संकल्प का अर्थ हैं स्वयं को किसी कामना से बांध लेना। कर्म की शुरुआत ही कामना से होती है। कृष्ण तो कहते हैं- कर्मों के आरम्भ का भी त्याग कर देना चाहिए। आरम्भ संकल्प करवाता हैं। संकल्प को पूरा करने के लिए ही

अभ्यास किया जाता है। प्रकृति के साथ जीने के लिए किसी अभ्यास की आवश्यकता ही नहीं है। वहां तो समझ चाहिए। तुरन्त श्रद्धा और समर्पण पैदा हो जाएंगे।

मैं ही सत्य

समर्पण ही सहता है, ऋजुता है। मेरी अब कोई कामना नहीं। जो ईश्वर की इच्छा हैं, वहीं पूरी होनी चाहिए। वह न गलत होगी, न अपूर्ण ही रहेगी। मेरी इच्छा में अहंकार होगा, प्रकृति को चुनौती होगी। संघर्ष भी और निश्चिततौर पर हार भी होगी। कर्म के फल भी सुख कैसे देंगे। वैसे मेरे तो सुख-दुःख दोनों ही स्थायी नहीं हैं। इसको पाना भी हार ही हैं। अर्थात् हमारे संकल्प और अभ्यास कामना तथा फल प्राप्ति से ही जुड़े हैं। कृष्ण अर्जुन से कह रहे हैं- 'समत्वं योग उच्यते' भी तथा 'अभ्यासे न कौन्तेय' भी। उसे युद्ध के लिए संकल्पित करना हैं। हमारे लिए तो उनकी बात या सलाह 'कर्मण्येवाधिकारस्ते--+ ही काम की हैं। इसके बिना 'मामेकं शरण व्रज' संभव ही नहीं है।

अतः जीवन में सर्वाधिक महत्वपूर्ण तथ्य समझे का हैं कि 'मैं ही वासुदेव हूं, मैं ही अर्जुन हूं।' कृष्ण स्पष्ट कह रहे हैं कि, हम दो नहीं है, एक ही हैं। इस अद्वैत को समझ पाना ही रहस्य है। 'तुम अथवा 'वह' शब्द रहा ही नहीं। ये तो 'दो' के वाचक हैं। बुद्धि अपने अस्तित्व' के अहंकार पर ही सवार रहती हैं। बोध के लिए, एकात्म के लिए बुद्धि नहीं, समझ चाहिए। शरीर के बाहर से सिमटकर भीतर जाने की अनिवार्यता है। हृदय के केन्द्र में प्रतिष्ठित ब्रह्मा से एकाकार होना है। जैसे एक सेटेलाइट ऊपर चांद पर जाता है, वैसे ही हमको भी हर स्टेज पर कुछ न कुछ छोड़ते हुए ऊपर उठना हैं। जहां नश्वर सब छूट जाए, परिवर्तित होने वाला सब छूट जाए, वहां जो बचेगा, वह जन्म से पूर्व भी था, आज भी है, कल भी रहेगा। वही तो सृष्टि का 'सत्य' हैं। वही मैं हूं।

जैसे ही मन में यह बोध जाग्रत हो जाए कि 'मैं ही ब्रह्म हूं, मैं ही सत्य हूं। फिर क्या तो जानने को रह गया, क्या ही पाने को बचेगा। न अभ्यास, न संकल्प। न कर्म, न ही फल। वह भी नहीं, बस में। इस बोध को जो प्राप्त हो जाएगा, वही बुद्ध हो जाएगा।

विश्व विजयी आध्यात्मिक

(चालः- विजयी विश्व तिरंगा यारा...

विजयी विश्व आध्यात्मिक/(आत्मिक/शुद्धात्मा) प्यारा(न्यारा)
आत्मा को परमात्मा बनाने वाला। (स्थायी)
तन मन इन्द्रिय परे वाला, राग द्वेष मोह रहित वाला।
अनन्त ज्ञान दर्शन सुख वीर्य वाला, अस्तित्व वस्तुत्व प्रमेयत्व वाला।।
जन्मजरा मृत्यु रहित वाला, उत्पाद व्यय ध्रौव्य वाला।
द्रव्यभावनोकर्म रिक्त वाला, ईर्ष्या तृष्णा घृणा रहित वाला। (1)

ऊँचनीच भेदभाव रहित वाला, ''सव्वे सुद्धाहुसुद्धणया'' वाला।
आत्मविश्वास ज्ञान चारित्र वाला, अहिंसा सत्य अचौर्य ब्रह्मनिःसंग वाला
उत्तमक्षमा मार्दव आर्जव शौच, सत्य संयम तप त्याग आंकिचन्य।।
आत्मविजय से विश्वविजयी वाला, आत्मानुशासन से शासित वाला।(2)

अन्त्योदय से सर्वोदय वाला, अभ्युदय से निःश्रेयस देने वाला
स्वतंत्र स्वाधीन स्वानुशासी वाला, मैत्री प्रमोद कारूण्य साम्य वाला।
आत्मशुद्धि से आत्मशक्ति पाने वाला, भौतिक शक्ति से अपराजय वाला(3)

अनेकान्त सिद्धान्त स्याव्दादवाला, वस्तु स्वभाव स्वतंत्र सहित वाला।
अनुपम अद्वितीय शाश्वत वाला,''सूरी कनक' का आत्मिक स्वभाव वाला(4)

ग.पु. कॉ. 31.5.2020 मध्याह्न 12.19

(मेरी आध्यात्मिकता से प्रभावित होकर भक्त शिष्य जो स्व गलतियों को स्वीकार कर आध्यात्मिक बन रहें है, उससे प्रेरित होकर यह कविता बनी।)

पंचपरमेष्ठी ही विश्व में श्रेष्ठ-ज्येष्ठ-पूज्य

(इन्द्र से ले चक्रवर्ती तक पंचपरमेष्ठी से कनिष्ठ)

(इससे मेरी समता शान्ति आत्मविशुद्धि, बुद्धिलब्धि
कार्यक्षमतादि में हो रही है वृद्धि)

(चालः- 1. आत्मशक्ति....2. क्या मिलिए....)

पंचपरमेष्ठी होते हैं पूर्ण विश्व में श्रेष्ठ,
आध्यात्मिक दृष्टि परमपद में स्थित।

राजा महाराजा सेठ साहुकार से भी श्रेष्ठ,
नेता अभिनेता से ले चक्रवर्ती इन्द्र से भी ज्येष्ठ।। (1)
इस पदवी के हेतु चक्री भी त्यागते राज्यवैभव,
साधु बनकर बनते पाठक, सूरी अरिहंत व सिद्ध।
सामान्य भव्य भी जब बनते हैं निर्ग्रन्थ श्रमण,
राजा से ले इन्द्र तक उन्हें करते है प्रणाम। (2)
पंचपरमेष्ठी होते आध्यात्मिक दृष्टि से महान्,
आध्यात्मिकता से ही जीव पाते परमस्थान।
इस से जीव पाते हैं शाश्वत आत्मवैभव,
जिस के समक्ष संसार के सारे वैभव न्यून।। (3)
साधु पाठक सूरी अवस्था होती साधकावस्था,
इससे वे पाते हैं अरिहन्त सिद्धावस्था।
पंचपरमेष्ठी के गुणस्थान होते छट्ठी से सिद्ध तक,
अन्य के गुणस्थान संभव प्रथम से पंचम तक।। (4)
अतएव अन्य जीव न होते आत्मिक दृष्टि से श्रेष्ठ,
उन्हें प्राप्त न होता कभी उसी अवस्था में मोक्ष।
जिससे उन्हें भ्रमण करना होता संसार चक्र,
अधिक से अधिक वे प्राप्त करते स्वर्ग तक।। (5)
अतएव साधु पाठक सूरी होते इन्द्र से भी पूज्य
आत्मवैभव रूपी रत्नत्रय से वे होते चक्री से भी ज्येष्ठ
अरिहन्त सिद्ध होते हैं त्रैलोक्याधिपति पूज्य,
अनन्त ज्ञानदर्शन सुखवीर्यादि अनन्त गुणों से युक्त।। (6)
तथापि उन्हें रागीद्वेषी मोही कामी न मानते श्रेष्ठ,
सत्ता सम्पत्ति प्रसिद्धि व भोगोपभोगी को मानते श्रेष्ठ।
जिससे वे आत्म स्वरूप विमुख हो पाते दुःख,
स्व आत्म वैभव प्राप्त हेतु 'कनक' करे पुरुषार्थ।। (7)

ग.पु.कॉ 29.05.2020 मध्याह्न 2:21 (यह कविता यशवंत के कारण बनी)

संदर्भ

पञ्चमहागुरुभक्तिः

श्रीमदमरेन्द्र-मुकुट-प्रघटित-मणि-किरण-वारि-धाराभिः।
प्रक्षालित-पद-युगलान्, प्रणमामि जिनेश्वरान् भक्त्या।(1)

अन्तरंग में अनन्त चतुष्टय रूप लक्ष्मी व बाह्य समवसरण विभूति से शोभा को प्राप्त भवनवासियों के 40, व्यन्तर देवों के 32, कल्पवासियों के 24, ज्योतिषियों के 2, मनुष्यों के चक्रवर्ती व तिर्यञ्चों का सिंह इस प्रकार 100 इन्द्रों से वन्दित है चरण-कमल जिनके ऐसे वीतरागी सर्वज्ञ हितोपदेशी अरहन्त परमात्मा को मैं भक्तिपूर्वक नमस्कार करता हूँ।

अष्टगुणैः समुपेतान् प्रणष्ट-दृष्टाष्ट-कर्मरिपु-समितीन्।
सिद्धान् सतत-मनन्तान्-नमस्कारो-मीष्ट तुष्टि संसिद्ध्यै।(2)।

जिन्होंने ज्ञानावरण आदि आठ दुष्ट कर्मों के समूह का पूर्ण क्षय कर दिया जो आठ कर्मों के अभाव में सम्यक्त्व आदि आठ महागुणों से शोभायमान हैं ऐसे अनन्त सिद्धों को मैं इच्छित, तुष्टिकारक, समीचीन सिद्धि की प्राप्ति के लिये सदा नमस्कार करता हूँ।

साचार-श्रुत-जलधीन्-प्रतीर्य शुद्धोरुचरण-निरतानाम्।
आचार्याणां पदयुग-कमलानि दधे शिरसि मेऽहम्।।(3)।

जो आचाराङ्ग सहित पूर्ण द्वादशांग श्रुतरूपी समुद्र में पारंगत हो, निर्दोष, शुद्ध पंचाचार के पालन करने में सदा तत्पर रहते हैं, ऐसे आचार्य भगवन्तों के पुनीत चरण-युगल को मैं अपने सिर पर धारण करता हूँ। उन्हें भक्ति से सिर झुकाकर नमस्कार करता हूँ।

मिथ्या-वादि-मद्रोग्र-ध्वान्त-प्रध्वन्सि-वचन-संदर्भान्।
उपदेशकान् प्रपद्ये मम दुरितारि प्रणाशाय।(4)।

उपाध्याय परमेष्ठी स्वसमय पर समय के ज्ञाता, नित्य धर्मोपदेश में निरत रहते हैं उनके हित-मित-प्रिय प्रवचनों के प्रकरण को सुनते ही मिथ्यावादियों का मान गलित हो जाता है, अज्ञान, अंधकार विलीन हो जाता है। ऐसे उपाध्याय परमेष्ठी की शरण में मैं भी जाता हूँ। आपके चरण-कमलों के सम्पर्क से, शरणार्थी के पापों का क्षय हो।

सम्यग्दर्शन-दीप-प्रकाशका-मेय-बोध-सम्भूताः।
भूरि-चरित्र-पताकास्ते साधु-गणास्तु मां पान्तु।(5)।

''दिगम्बर साधुओं का शरीर चैत्यगृह है''। जो सम्यग्दर्शन रूपी दीपक को प्रकाशित कर भव्य जीवों के अनादि-कालीन मिथ्यात्व के अन्धकार को नष्ट करने वाले हैं। जो साधुगण जीवादि नौ पदार्थों के ज्ञान से सम्पन्न है, जिनकी उत्कृष्ट चारित्र-रूपी ध्वजा लोक में फहरा रही है, उन साधुगण/महासाधुओं की शरण में मैं जाता हूँ, ये साधुसमूह मेरी रक्षा करें।

जिन-सिद्ध-सूरि-देशक-साधु-वरानमल गुण गणोपेतान्।
पञ्चनमस्कार-पदै-स्त्रि-सन्ध्य-मभिनौमि मोक्ष-लाभाय।(6)।

जो अनन्त निर्मल गुणों से शोभायमान है ऐसे अरहन्त-सिद्ध-आचार्य-उपाध्याय तथा उत्तम साधु इन पञ्च परमेष्ठियों को मैं मोक्ष की प्राप्ति के लिये णमोकार मन्त्र रूप पाँच पदों के द्वारा तीनों सन्ध्याओं में नमस्कार करता हूँ अर्थात् अनन्त गुणों के समुद्र परमेष्ठी की आरधना मुक्ति की प्राप्ति के लिये एकमात्र अमोघ कारण है।

एषःपञ्चनमस्कारः, सर्वपापप्रणाशनः।
मंगलानां च सर्वेषां, प्रथमं मंगलं भवेत्।(7)।

परमेष्ठी वाचक, अनादि निधन यह पञ्च नमस्कार मन्त्र सब पापों को नाश करने वाला, लोक में सब मंगलों में श्रेष्ठ प्रथम मंगल है।

अर्हत्सिद्धाचार्यो-पाध्यायाःसर्वसाधवः।
कुर्वन्तु मंगलाः सर्वे, निर्वाण परमश्रियम्।(8)।

तीनों लोकों में मङ्गलरूप-पापों के नाशक, सुख के प्रदायक, अर्हन्त-सिद्ध-आचार्य-उपाध्याय-साधु ये पञ्चपरमेष्ठी मेरे लिये उत्कृष्ट मुक्ति लक्ष्मी प्रदान करें।

सर्वान जिनेन्द्र चंद्रान्, सिद्धानाचार्य पाठकान् साधून्।
रत्नत्रयं च वंदे, रत्नत्रयसिद्धये भक्त्या।(9)।

मैं भक्तिपूर्वक समस्त अरहन्त-सिद्ध-आचार्य-उपाध्याय व साधुओं

की तथा रत्नत्रय की वन्दना करता हूँ, मुझे रत्नत्रय की सिद्धि हो, रत्नत्रय की प्राप्ति हो।

पांतु श्रीपादपद्मानि, पञ्चानां परमेष्ठिनां।
लालितानि सुराधीश, चूडामणि मरीचिभिः।(10)

देवों का अधिपति इन्द्र भी जिनके चरण-कमलों की सेवा में नतमस्तक रहता है, ऐसे पञ्चपरमेष्ठी भगवान् के पावन चरण-कमल मेरी रक्षा करें।

प्रातिहार्यैर्जिनान् सिद्धान्, गुणैः सूरीन् स्वमातृभिः।
पाठकान् विनयैः साधुन्, योगांगैरष्टभिः स्तुवे।(11)

जो अरहन्त भगवान अशोक वृक्ष, सिंहासन, तीन छत्र, भामण्डल, दिव्यध्वनि, पुष्पवृष्टि, चौसठ चवर और दुंदुभिनाद इन आठ प्रातिहार्यों से शोभायमान है, जो सिद्ध भगवान् सम्यक्त्व, दर्शन, क्षायिक ज्ञान, अगुरुलघु, अवगाहना, सूक्ष्मत्व, वीर्य और निराबाधत्व इन आठ गुणों से शोभायमान हैं, जो आचार्य परमेष्ठी 5 समिति व तीन गुप्तियों इन आठ प्रवचन मातृकाओं से शोभित है जो उपाध्याय परमेष्ठी दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप की आराधना रूप 4 प्रकार के विनयों से शोभायमान है तथा जो साधु परमेष्ठी यम-नियम-आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार-ध्यान-धारणा व समाधि से शोभित हैं उन साधु परमेष्ठी की मैं स्तुति, वन्दना करता हूँ।

इच्छामि भंते!पंचमहागुरु-भत्ति-काउस्सग्गो कओ तस्सालोचेउं, अट्ठ-महा-पाडिहेर-संजुत्ताणं, अरहंताणं, अट्ठ-गुण-सम्पण्णाणं, उड्ढलोय मत्थयम्मि पइट्ठियाणं, सिद्धाणं, अट्ठ-पवय-णमउ संजुत्ताणं आइरियाणं, आयारादि सुदणाणोवदेसयाणं उवज्झायाणं, ति-रयण-गुण पालणरदाणं सव्वसाहूणं, सया णिच्चकालं अंचेमि, पूजेमि, वंदामि, णमस्सामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाहो, सुगइगमणं, समाहि-मरणं, जिण-गुण-सम्पत्ति होउ मज्झं।

''मैं गुणों से मंडित पञ्चपरमेष्ठी भगवन्तों की पूजा, अचर्ना, वन्दना करता हूँ।'' मेरे दुःखों का, कर्मों का क्षय हो, रत्नत्रय की प्राप्ति, उत्तम गति की प्राप्ति हो, समाधि की प्राप्ति हो तथा जिनेन्द्र देव के गुणों की प्राप्ति हो।

आत्मविजयी होते हैं विश्वविजयी

(अन्तरंग-बहिरंग संग्राम आदि अनन्त)

(चालः- 1. यमुना किनारे ....2. सायोनारा....)

महासंग्राम! महासंग्राम!, जीव व कर्मो में महासंग्राम।
अनादि से चल रहा यह संग्राम, अनन्त तक चलेगा यह संग्राम।।
युद्ध क्षेत्र होता पूरा विश्व, जीव अनन्त व कर्म अनन्तानन्त।
व्युह रचना है पंचपरिवर्तन, चौरासी लक्ष योनियों में संग्राम।।(1)

क्रोध मान माया लोभ कारण, मिथ्यात्व कर्म है प्रमुख कारण।
हास्यरति अरति शोक भय कारण, जुगुप्सा स्त्री पुनपुंसक वेद कारण।।
हिंठा झूठ चोरी कुशील परिग्रह कारण, सप्त व्यसन अष्टमद कारण।
सत्ता सम्पत्ति प्रसिद्धि वर्चस्व कारण, संग्राम होता स्त्री पुत्रादि कारण।।(2)

संकल्प विकल्प संक्लेश कारण, अपेक्षा उपेक्षा प्रतीक्षा कारण।
मान अपमान सम्मान कारण, संग्राम होता भोगोपभोग कारण।।
तन मन इन्द्रियों से होता संग्राम, अस्त्र शस्त्रादि होते बाह्य कारण।
जन्म मरण सुख दुःखादि उत्पन्न, उत्थान पतन व मान-अपमान।।(3)

शोषक-शोषित व भक्ष्य-भक्षक, शिकारी-शिकार मालिक-गुलाम।
सब कुछ होता है अनन्त प्रमाण, शाश्वतिक सुख से वंचित संग्राम।।
इसका ही छोटा रूप युद्ध रामायण, महाभारत, भरत-बाहुबली संग्राम।
जीव कर्म संग्राम तब होता सम्पूर्ण, जीव विजयी कर्म का होता निधन।।(4)

विजयी जीव ही बनते भगवान्, परास्त जीव संसार में करते भ्रमण
अन्यथा दिग्विजयी भी होते गुलाम, राजा महाराजा से चक्री तक ज्ञेय।।
अतएव चक्री तक बनते श्रमण, कर्म विजयी से बनते भगवान्।
अन्यथा गुलाम चक्री (तक) पाते नरक, यह रहस्य कुज्ञानी अगम्य।।(5)

आत्मविजयी होते कर्म विजयी, कर्म विजयी होते विश्व विजयी।
आत्मविशुद्धि से जीव बने आत्मविजयी,आत्मविजयी बनना 'कनक'का ध्येय
अन्तरंग-तथाहि बहिरंग संग्राम, व्यक्ति से ले सामूहिक संग्राम।
होते रहते अनादि अनन्त तक, आत्म विजय से सभी संग्राम अन्त।।(6)

ग.पु. कॉ. दि. 30.5.2020 रात्रि 10.16

संदर्भ

सर्वेऽपिपुद्गलाःखल्वेकेनात्तोज्झिताश्च जीवेन।

ह्यसकृद्वानन्तकृत्वः पुद्गलपरिवर्तन संसारे।

पुद्गल परिवर्तन रूप संसार में इस जीव ने सभी पुद्गलों को क्रमशः अनन्त बार ग्रहण किया और छोड़ दिया। जो पुद्गल पहले ग्रहण किये हो उन्हें गृहीत कहते हैं। जो पहले ग्रहण न किये हो उन्हें अगृहीत कहते हैं। दोनों के मिलान को मिश्र कहते हैं, इनके ग्रहण का क्रम पूर्वोक्त प्रकार है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय में द्रव्य परिवर्तन के दो भेद किये गये हैं-बादर द्रव्य परिवर्तन और सूक्ष्म द्रव्य परिवर्तन। दोनों के स्वरूप में भी अन्तर है, जो इस प्रकार है-'जितने समय में एक जीव समस्त परमाणुओं को औदारिक, वैक्रियक, तैजस, भाषा, आनप्राण, मन और कार्माणशरीर रूप परिणमनकर, उन्हें भोगकर छोड़ देता है, उसे बादर द्रव्य परिवर्तन कहते हैं और जितने समय में समस्त परमाणुओं को औदारिक आदि सात वर्गणाओं में से किसी एक वर्गणारूप परिणमनकर उन्हें भोगकर छोड़ देता है उसे सूक्ष्म द्रव्य परिवर्तन कहते हैं।'

सर्वे स्वहित कर्त्ता

कर्म कर्महिताबन्धिजीवो जीवहितस्पृहः।

स्वस्वप्रभावभूयस्त्वे स्वार्थं को वा न वाञ्छति।(31)।

Karma works in its own cause; the soul works for its own good. Who has there in the world that willnot work for his own good when he has the power to do so?

कत्थवि बलिओ जीवो, कत्थवि कम्माइ हुँति बलिमाइ। जीवस्स य कम्मस्स य, पुव्वविरूद्धाइवइराइ। इत्यभिधानात्पूर्वोपार्जित बलवत्कर्म कर्मण। स्वस्यैव हितमाबध्नाति जीवस्यौदयिकादिभावमुद्भाव्यं नवनवकर्माधायकत्वेन स्वसंताले पुष्णातीत्यर्थः

''जीवकृतं परिणामं, निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये। स्वयमेव परिणमत्वेऽत्र पुद्गलाः कर्म भावेन।'' पुरुषार्थसिद्धुपायः

''परिणममानस्य चितश्चिदात्मकैः स्वयमपि स्वकैर्भावैः। भवति हि निमित्तमात्रं, पुद्गलिकं कर्म तस्यापि। तथा जीवः कालादिलब्ध्या

बलवानात्मा जीवस्य स्वस्यैव हितमन्तसुखहेतुत्वे नोपकारकं मोक्षमाकाङ क्षति। अत्रदृष्टान्तमाह-स्वस्वैत्यादि निजनिजमाहात्म्य बहुतरत्वेसति स्वार्थे स्वस्योपकारकं वस्तु को न वाच्छति सर्वोप्यभिलषतीत्यर्थ। ततो विद्धि कर्माविष्टो जीवः कर्म संचिनोतीति।

पुनः शिष्य प्रश्न करता है कि पुद्गल किस प्रकार बंध जाते है अर्थात् किस प्रकार से पुद्गल कर्म जीव के साथ बंध जाते हैं? इसका उत्तर गुरु देते है।

कभी जीव बलवान हो जाता है तो कभी कर्म बलवान हो जाता है इसी प्रकार जीव एवं कर्म का वैरत्व पूर्व से ही चला आ रहा है। इस विधान से पूर्वोपार्जित बलवान कर्म स्वयं का हित चाहता है अर्थात् जीव के औदायिक आदि भावों को उत्पत्ति करा करके नवीन-नवीन कर्म को त्यागकर सब सन्तान की पुष्टि करता है। ''पुरुषार्थ सिद्धुयुपाय'' में कहा भी है-

जीवकृत परिणाम का निमित्त मात्र प्राप्त करके स्वयमेव पुद्गल परमाणु कर्म रूप में परिणम जाते हैं।

इसी प्रकार जब जीव स्वःचेतन्य परिणाम से परिणमन करता है तो उस समय में पौद्गलिक कर्म उस परिणमन में निमित्त बनता है। जिस प्रकार बलवान कर्म स्वकर्म को उत्पन्न करके स्व का उपकार करता है उसी प्रकार कालादि लब्धि को प्राप्त करके बलवान आत्मा स्वयं के लिये हितकारक अनन्त सुख के लिये हेतुभूत मोक्ष की आकांक्षा करता है। इसका उदाहरण देते है कि जिस प्रकार अपने-अपने महात्म्य के बढ़ने पर स्व-स्व के उपकारक वस्तु को कौन नहीं चाहता हैं अर्थात् सब कोई चाहते हैं। इससे सिद्ध होता है कि कर्म से आबद्ध जीव कर्म का संचय करता है।

समीक्षा :- पूर्वोपार्जित द्रव्य कर्म के उदय से भाव कर्म होता हैं एवं भाव कर्म से द्रव्य कर्म संचय होता है, यह वर्तमान कालीन द्रव्य कर्म ही भविष्य कालीन भावकर्म का जनक होता है। वर्तमानकालीन भाव कर्म का जनक भूतकालीन भावकर्म से उपार्जित द्रव्य कर्म होता है। अतएव द्रव्यकर्म एवं भावकर्म परस्पर जन्य जनकत्व सम्बन्ध से सम्बन्धित है।

जीवं परिणामं हेदुं कम्मत्तं पुग्गल परिणमंति।
पुग्गल कम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमदि।। स. सार

Mateel malecules are transformed into karmas by reason of the mundane souls (संसारी आत्मा) thought activity, similarly the mundane soul is transformed (into its impure thought activity) by reason of operation of karmic matter:

जीव परिणाम को निमित्त मात्र करके पुद्गल, कर्मभाव से परिणमन करते हैं। इसी प्रकार दैव को शक्ति प्रदान करने वाला पुरुष (परम पुरुषार्थ से हीन पुरुषार्थ) है और उस शक्ति के अनुशासन में शासित होने वाला पुरुष है। जब पुरुष उसको शक्ति प्रदान करता है, तब दैव विभिन्न रूप धारण करके विभिन्न कार्य करता है।

जह पुरिसेणाहारो गहिदो परिणमदि सो अणेय विहं।
मंसवसारुहिरादिभावे उदयरग्गि संजुतो।। स.सार

As the food taken by a man is modified in many way in the form of flesh never, blood, etc, by reason of the digestive heat of the human system. That like the molecules of the karmic matter modified in many, in the form of eight knids of karma by impure thought activity of the mundane soul.

जैसे पुरुष ग्रहण किया गया आहार उदराग्नि से युक्त हुआ, अनेक प्रकार माँस, रूधिर आदि भावों के रूप परणमता है उसी प्रकार कर्म पुद्गल भी जीवों के रागादि भावों को प्राप्त कर 8 (आठ) प्रकार अथवा अनेक प्रकार दैवरूप में परिणमन करता है।

भोजन से पहले खाद्य सामग्री, भात, दाल, आदि रूप में रहती है। भोजन करने से वही खाद्य सामग्री खाने वाले के चर्वण लार, पाचन शक्ति आदि के निमित्त से रस, रूधिर, माँस मेद (चर्बी), अस्थि, मज्जा, वीर्य, ओज आदि रूप परिणत हो जाती है। इसी प्रकार कर्मवर्गणा जब तक जीव के योग और उपयोग के निमित्त प्राप्त करके आस्रव एवं बंध रूप परिणमन नहीं करती है तब तक वह वर्गणा केवल भौतिक पुद्गल स्वरूप ही रहती है। जीव के योग एवं उपयोग को प्राप्त करके वही कर्मवर्गणा ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय मोहनीय आदि कर्म रूप से परिणमन कर लेती है। जीव के योग एवं उपयोग को प्राप्त करने से पहले कर्मवर्गणा जड़ रूप में रहती हैं एवं योग तथा उपयोगरूपी जीव के शुभाशुभ निमित्त को प्राप्त करके दैव रूप में

परिणमन कर लेती है। इससे सिद्ध होता है कि दैव भी पुरुषार्थ से जायमान (उत्पन्न) है। जैसे अण्डा से पक्षी उसी प्रकार शुभाशुभ पुरुषार्थ भी पूर्वार्जित दैव के कारण होता है। इसलिए कथञ्चित् पुरुषार्थ भी दैव से जायमान है। जैसे अंडा से पक्षी जायमान है और पक्षी से अंडा जायमान है। जैसे बीज से वृक्ष एवं वृक्ष से बीज उत्पन्न होता है उसी प्रकार कथञ्चित् कर्म (दैव) एवं पुरुषार्थ से कर्म उत्पन्न होता है। अभव्य जीव के दैव एवं पुरुषार्थ की परम्परा अनादि अनन्त होते हुये भी मोक्ष जाने वाले भव्यों की यह परम्परा अनादि सान्त है। दैव एवं पुरुषार्थ का परस्पर जन्य-जनक का भाव बताते हुये आचार्य कुन्दकुन्दस्वामी निम्न प्रकार बताते हैं-

भावो कम्म णिमित्तो कम्मं पुण भाव कारणं हवदि।
ण दु तेसिं खलु कत्ता ण विणा भूदा दु कत्तारं।।

Bhave or emolional state are conditioned by Dravyakarma or matter. And karma in its turn is indeed conditioed by karmic thought or Bhave. Soul is not the essential cause in that case and still without essential cause these changes cannot happen.

निर्मल चैतन्यमयी ज्योति स्वभावरूप शुद्ध जीवास्तिकाय से प्रतिपक्षी भाव जो मिथ्यात्व व रागादि परिणाम है वह कर्मों के उदय रहित चैतन्य का चमत्कार मात्र जो परमात्मा स्वभाव है, उससे उल्टे जो हृदय में प्राप्त कर्म है उनके निमित्त से होता है। तथा ज्ञानावरणादि कर्मों से रहित जो जो शुद्धात्म तत्त्व है उससे विलक्षण जो नवीन द्रव्य कर्म है सो निर्विकार शुद्ध आत्मा की अनुभूति से विरूद्ध जो रागादि भाव है उनके निमित्त से बंधते हैं। ऐसा होने पर भी जीव सम्बन्धी रागादि भावों का और द्रव्य कर्मों का परस्पर उपादान कर्त्ता जीव ही है तथा द्रव्यकर्मों का उपादान कर्त्ता कर्मवर्गणा योग्य पुद्गल ही है। दूसरे व्याख्यान में यह तात्पर्य है कि यद्यपि शुद्ध निश्चयनय से विचार किए जाने पर जीव रागादि भावों का कर्ता है यह बात सिद्ध है।

आदा कम्म मलिमसो परिणामं लहदि कम्म संजुत्तं।
तत्तो सिलिसदि कम्मं तम्हा कम्मं तु परिणामो।।21।।

''संसार'' नामक जो यह आत्मा तथा विध (उस प्रकार का परिणाम है) वहीं द्रव्यकर्म के चिपकने (बंध) हेतु है, अब उस प्रकार के परिणाम का हेतु कौन है ?

इस उत्तर में कहते हैं कि द्रव्यकर्म उसका हेतु है, क्योंकि द्रव्यकर्म की संयुक्ता से ही वह भाव कर्म है।

ऐसा होने से इतरेतराश्रय दोष आएगा, क्योकि अनादि सिद्ध द्रव्य कर्म के साथ सम्बन्ध आत्मा का जो पूर्व का द्रव्यकर्म है उसको वहाँ हेतु रूप से ग्रहण किया गया है।

इस प्रकार नवीन द्रव्यकर्म जिसका कार्यभूत है और पुराना द्रव्यकर्म जिसका कारणभूत है, ऐसा आत्मा का तथाविध परिणाम होने से वह उपचार से द्रव्यकर्म ही है और आत्मा भी अपने परिणाम का कर्त्ता भी उपचार से है।

जीव परिणाम हेदुं कम्मत्तं पुग्गला परणमंति।
पुग्गल कम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमदिं।।
ण वि कुव्वदि कम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे।
अण्णोण्णं णिमित्तेण दु परिणामं जाण दोण्ह पि।।

यद्यपि जीव के रागद्वेषी परिणामों का निमित्त पाकर पुद्गल द्रव्य कर्मत्व रूप परिणमन करता है। वैसे ही पौद्गलिक कर्मों के उदय का निमित्त पाकर जीव रागादि रूप परिणमन करता है। तथापि जीव कर्म के गुण रूपादिक स्वीकार नहीं करता, उसी भाँति कर्म भी जीव के चेतनादिक गुणों को स्वीकार नहीं करता। किन्तु मात्र इन दोनों का परस्पर एक दूसरे के निमित्त से उपर्युक्त विकारी परिणमन होता है।

एदेण कारणेण दु कत्ता आदा सएण भावेण।(स.सार)
पुग्गल कम्म कदाणं ण दु कत्ता सव्वभावगं।।82।।

इस प्रकार जीव और पुद्गल के परस्पर में निमित्त कारणपना है इसका व्याख्यान किया गया है।

व्यवहारनय से भिन्न षट्कारक के अनुसार जीव के रागद्वेष का निमित्त पाकर कर्म परमाणु द्रव्य कर्मरूप में परिणमन करता है। द्रव्यकर्म के उदय से भावकर्म उत्पन्न होते हैं। परंतु निश्चयनय से एक द्रव्य अन्य द्रव्य का कर्त्ता नहीं होने से जीव परिणाम के हेतु पुद्गल नहीं है एवं पुद्गल के परिणाम के हेतु जीव नहीं है। पंचास्तिकाय में कहा है :-

निश्चयनयेनाभिन्नकारकत्वाकर्मणो जीवस्य च स्वयं स्वरूप कर्तृत्वमुक्तम्।''

निश्चय से अपने रूप के कर्ता है। निश्चय से जीव पुद्गल का कर्त्ता नहीं होने पर भी व्यवहारनय से कर्त्ता है।

स्व-हित करणीय

परोपकृतिमुत्सृज्य स्वोपकारपरो भव।
अपकुर्वन्परस्याज्ञो दृश्यमानस्य लोकवत्।(32)

O Witless one! thou are serving this visible show that is not thyself; thou shouldst now renounce dowing good to others and take to dowing good to thine own self!

हे भव्य! विद्या अर्थात् मोह के कारण जो तुमने देहादि पर द्रव्यों का उपकार किया हैं अभी विद्या के बल पर उस परोपकार को त्याग करके आत्मानुग्रह प्रधान बनो। शरीर आदि परद्रव्य हैं, क्योंकि शरीर पुद्गल से निर्मित हैं। जिस प्रकार कि लोक में अज्ञान अवस्था में लोग दूसरों के उपकार करते हैं, परन्तु ज्ञान होने के बाद दूसरों का उपकार त्याग करके स्व का उपकार करते हैं।

समीक्षा-इस श्लोक में आचार्य श्री ने लौकिक उदाहरण देकर यह समझाया कि जिस प्रकार लोक में बिना जाने शत्रु का भी उपकार कर लेते हैं परन्तु जब पता चल जाता है कि ये मेरा शत्रु है तब उसका उपकार छोड़कर आत्म-उपकार करते हैं, उसी प्रकार शरीर, धन-सम्पत्ति आदि जो परद्रव्य हैं, उसको मोही जीव अपना मानकर उसका संरक्षण संवर्द्धन करता है, परन्तु स्व-आत्म-द्रव्य को न जानता है, न मानता है, न उसका उपकार करता है। इसलिये दयालु परोपकारी आचार्य गुरुदेव भव्य को संबोधित करते हुये कहते हैं कि हे भव्य! तुम अनादिकाल से मोह से मोहित होकर स्व-उपकार को भूलकर दूसरों के उपकार में ही लगे हुये हो। तुम अभी तक धोबी का काम, गधे का काम, गुलामी का काम करते आ रहे हो। जिस प्रकार धोबी दूसरों के गंदे कपड़े धोता रहता है उसी प्रकार तुमने भी दूसरों की गलती को देखकर उसको दूर करने में लगे हुये हो परन्तु स्वयं की गलती का भान तक तुम्हें नहीं है। जिस प्रकार गधा दूसरों का बोझ ढ़ोता है उसी प्रकार तुम भी शरीर, का, कुटुम्ब का, धन का,

अभिमान ढो रहे हो, गधा अपने पीठ पर चन्दन की लकड़ी का भार केवल ढ़ोता रहता है परन्तु चन्दन की सुगंधी तथा शीतलता का अनुभव नहीं करता है। इसी प्रकार जीव, शरीर, सम्पत्ति कुटुम्ब का भार ढ़ोता रहता है। परन्तु आत्मा का आनन्द अनुभव नहीं करता है। वह उस भार को ही अपना सर्वस्व, गौरव, बडप्पन मान लेता है। जो अन्याय, अत्याचार, शोषण आदि से धन कमाता है। उस धन के कारण वह स्वयं को बड़ा मान लेता है और दूसरे लोग भी उसको बडा मान लेते हैं। गुलाम जिस प्रकार मालिक के आधीन होकर उसके निर्देश के अनुसार दीन-हीन होकर मालिक की सेवा करता है। उसी प्रकार मोही जीव शरीर, कुटुंब, धन, संपत्ति तथा राग द्वेष के गुलाम बनकर उसकी नौकरी करता है और यह सब करता हुआ भी स्वयं को श्रेष्ठ मान लेते है। जो ज्ञान वैराग्य से सम्पन्न होकर परिवार तथा वैभवादि त्यागकर स्व-आत्म-कल्याण करना चाहता है, उसे भी ऐसे मोही जीव-दीन हीन असहाय गरीब मान लेता है। इसलिए, आचार्य श्री ने यहाँ कहा कि हे मोही! तुमने अनंत संसार में दूसरो के लिए इतना रोया इतना आंसु बहाया कि यदि उस आँसु को इकट्ठा किया जाये तो अनेक समुद्र की जल राशि से अधिक हो जायेगा। अनंत बार तुम दुसरों के गुलाम, भाईः पिता, पुत्र, स्त्री आदि बने और दूसरे भी तुम्हारे अनन्त बार बने। इन सबके उपकार के लिए तुमने जितना परिश्रम किया उसका अनंतवा भाग भी स्वोपकार में लगाओगे तो तुम तीन लोक का स्वामी अर्थात् सिद्ध भगवान् बन जाओगे। इसलिए कुन्दकुन्दाचार्य देव ने कहा है- ''आदहिदं कादव्वं'' अर्थात् आत्महित अच्छी तरह से समग्रता से करना चाहिए। कहा भी है-

पीओसि थणच्छीरं अणंतजम्मंतराइं जणणीणं।
अण्णण्णाण महाजस सायरसलिलादु अहिययरं।।18।। अ.पा.

हे महाशय के धारक मुनि! तूने अनन्त जन्मों में अन्य-अन्य माताओं के स्तन का इतना दूध पिया है जो समुद्र के जल से भी अत्यन्त अधिक है- अनन्तगुणित है।

तुह मरणे दुवरेणं अण्णाणं अणेय जणणीणं।
रूण्णाण णयणीरं सायरसलिलादु अहिययरं।।19।।

हे जीव! तेरा मरण होने पर दुःख से रोती हुई अन्य-अन्य अनेक माताओं का अश्रुजल समुद्र के जल से अत्यन्त अधिक है।

भवसायरे अणंते छिण्णुज्झियके सणहरणालट्ठी।

पुंजेइ जइ को वि जार हवदि य गिरिसमधिया रासी।।20।।

हे जीव! तूने अनन्त संसार सागर में जिन केश, नख, नाभिनाल और हड्डियों को काटने के पश्चात् छोड़ा है यदि कोई यक्ष उन्हें इकट्ठा करे तो उनकी राशि पर्वत से भी अधिक हो जाये।

मादुपिदुसजणसंबंधिणो य सव्वे वि अत्तणो अण्णे।

इह लोग बंधवा ते ण य परलोगं समं णेंक्षि।। (720) मू.चा.

माता-पिता और स्वजन सम्बन्धी लोग ये सभी आत्मा से भिन्न है। वे इस लोक में तो बांधव है किन्तु परलोक में तेरे साथ नहीं जाते हैं।

अण्णो अण्णं सोयदि मदोत्ति मम णाहओत्ति मण्णंतो।

अत्ताणं ण दु सोवदि संसारमहण्णवे बुडुं।। (703)

यह जो मर गया, मेरा स्वामी है वैसा मानता हुआ अन्य जीव अन्य का शोक करता है किन्तु संसार-रूपी महासमुद्र में डूबे हुए अपने आत्मा का शोक नहीं करता है।

अण्णं इमं सरीरादिगं पि जं होज्ज बाहिरं दव्वं।

णाणं दंसणमादात्ति एवं चिंतेह अण्णतं।। (704)

यह शरीर आदि भी अन्य है पुनः जो बाह्य द्रव्य हैं वे तो अन्य हैं ही। आत्माज्ञानदर्शन स्वरूप है इस तरह अन्यत्व का चिन्तन करों।

अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कूडसामली।

अप्पा कामदुहा धेणू अप्पा मे नन्दणं वणं।।36।।

''मेरा अपना आत्मा ही वैतरणी नदी है, कूट-शाल्मलि वृक्ष है, काम-दुधा-धेनु है और नन्दन वन है।''

अप्पा कत्ता विकत्ता य दुहाण य सुहाण य।

अप्पा मित्तममित्तं च दुपट्ठिय-सुपट्ठिओ।।37।।

''आत्मा ही अपने सुख-दुःख का कर्त्ता है और विकर्त्ता-भोक्ता है। सत् प्रवृत्ति में स्थित आत्मा ही अपना मित्र है और दुष्प्रवृत्ति में स्थित आत्मा ही शत्रु है।''

मोक्ष के ज्ञाता

गुरुपदेशाभ्यासात्संवित्तेः स्वपरान्तरम्।
जानाति यः स जानाति मोक्षसौख्यं निरन्तरम्।

He who has acquired the discrimination between the self and the not-self, through the teaching of the precepter, by repated mediation on the nature of things, or by direct inner self pereception. that great soulenjous the happiness appertaining to salvation constanly!

''त्वमेवानुभवंश्चायामेकाग्रं परमृच्छति।
तथात्मधीनमानन्दमेति वाचामगोचरम्'।।

यहाँ पर शिष्य प्रश्न करता है कि हे गुरुदेव! स्व और पर में क्या विशेषताएँ है। किस प्रकार से स्व एवं पर का भेद विज्ञान होता है ? जो भेद विज्ञान को जानता है उसका क्या होता है? इसके उत्तर में गुरुदेव कहते हैं-

जो स्वयं को पर से भिन्न देखता और वह संविति लक्षण स्वरूप स्वलक्षण अनुभव से जानता है, यह इसका तात्पर्य है। यह अभ्यास से भावना के बल पर सम्भव होता है और यह सुदृढ़ स्वपर विवेक ज्ञान उत्पादक आध्यात्मिक गुरु के उपदेश के माध्यम से सम्भव होता है। इन प्रक्रियाओं से युक्त साधक की दूसरों के अनुभव से रहित स्व अनुभव से भावित निरन्तर अर्थात् अकिंचन्य रूप से अपनी आत्मा की भावना से जायमान होती है और कर्म से मुक्त वह अवस्था रहती है। तत्वानुशासन में कहा भी है-

उस कर्म से भिन्न निर्मल आत्मा के ध्यान से परम एकाग्रता की प्राप्ति होती है और वचन से परे आत्मा अधिक आनन्द का भी अनुभव करता है।

समीक्षा :- इस श्लोक में आचार्य श्री ने मोक्ष प्राप्ति में कारणभूत सद्गुरु का उपदेश सुनकर उस उपदेश से शिष्य में उत्पन्न हुआ भेद विज्ञान और भेद विज्ञान से प्राप्त हुआ मोक्ष सुख का व्यवस्थित क्रमबद्ध वर्णन किया है। सम्यग्दर्शन प्राप्ति के लिए अनेक बहिरंग कारण में गुरु-उपदेश भी एक कारण है और अन्तरंग कारण भी एक भाव की निर्मलता है। सम्यग्दर्शन के बाद ज्ञान सम्यग्ज्ञान हो जाता है तथापि आध्यात्मिक अनुभावात्मक सूक्ष्म रहस्य का परिज्ञान भी गुरु से प्राप्त होता है।

धर्मो नाम कृपा मूलं सा तु जीवानुकंपनम्।
अशरण्यशरण्यत्वमतो धार्मिकलक्षणम्।। क्ष.चू.

अर्थात् धर्म की आधारभूत दया है और उसका लक्षण है प्राणियों के साथ सहानुभूति। इसलिए जो अरक्षित प्राणियों की रक्षा करता है वही धार्मिक माना जाता है।। दूसरे शब्द में इस दया को अहिंसा कहा जा सकता है और उस अहिंसा में चूंकि सत्यादि का भी अन्तर्भाव होता है अतएव वह दया पंचव्रतात्मक ठहरती है। दम का अर्थ है राग-द्वेष के दमनपूर्वक इन्द्रियों का दमन करना-उन्हें अपने नियंत्रण में रखना अथवा स्वेच्छाचार में प्रवृत्त न होने देना। इसे दूसरे शब्द में संयम भी कहा जा सकता है जो इन्द्रिय संयम और प्राणी संयम के भेद से दो प्रकार का है। त्याग से अभिप्राय बाह्य और अभ्यन्तर परिग्रह के त्याग एवं दान का है। समाधि से तात्पर्य धर्म और शुक्ल रूप समीचीन ध्यान से है। इस प्रकार जो विवेकी जीव मन, वचन और काय की सरलता पूर्वक उपर्युक्त दया आदि चारों की परम्परा का अनुसरण करता है वह निश्चय से अविनश्वर पद को प्राप्त करता है।

विज्ञाननिहतमोहं कुटीप्रवेशो विशुद्धमायमिव।
त्यागः परिग्रहाणामवश्यमजरामरं कुरूते।। (108)

विवेक ज्ञान के द्वारा मोह के नष्ट हो जाने पर किया गया परिग्रहों का त्याग निश्चय से जीव को जरा और मरण से रहित इस प्रकार कर देता है जिस प्रकार कि कुटीप्रवेश क्रिया शरीर को विशुद्ध कर देती है।

मुहुं प्रसार्य संज्ञानं पश्यन् भावान् यथास्थितान्।
प्रीत्यप्रीती निराकृत्य ध्यायेदध्यात्मविन्मुनिः।।

आत्म तत्त्व का जानकार मुनि बार-बार सम्यग्ज्ञान को फैलाकर जैसा कि पदार्थों का स्वरूप है उसी रूप से उनको देखता हुआ राग और द्वेष को दूर करके ध्यान करे। अभिप्राय यह है कि आत्महितेषी जीव को सबसे पहिले सम्यग्ज्ञान के द्वारा जीवाजीवादि पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को जानने का प्रयत्न करना चाहिये।

ऐसा होने पर आत्म स्वरूप की जानकारी हो जाने से उसकी उस ओर रूची होगी। इसके अतिरिक्त बाह्य पर पदार्थों में इष्टानिष्ट बुद्धि के न रहने से राग द्वेष रूप प्रवृति भी नष्ट होवेगी जिससे की वह एकाग्र चित्त होकर ध्यान में लीन हो सकेगा। कारण यह है कि राग-द्वेषरूप प्रवृत्ति के होते हुए उस ध्यान की सम्भावना नहीं है।

वेष्टनोद्वष्टने यावत्तावद् भ्रान्तिर्भवार्णवे।
आवृत्तिपरिवृत्तभ्यां जन्तोर्मन्थानुकारिणः।(178)

मथानी का अनुकरण करने वाले जीव के जब तक रस्सी के बन्धने और खुलने के समान कर्मों का बन्ध और निर्जरा (सविपाक) होती है जब तक उस रस्सी के खींचने के समान कर्मों का बन्ध और निर्जरा(सविपाक) होती है तब तक उस रस्सी के खींचने और ढीली करने के समान राग और द्वेष से उसका संसाररूप समुद्र में परिभ्रमण होता ही रहेगा।

यहाँ जीव को मन्थनदण्ड (मथानी) के समान बतलाया है। उससे सम्बद्ध कर्म उस मन्थनदण्ड के ऊपर लिपटी हुई रस्सी के समान हैं, उसकी राग और द्वेषमय प्रवृत्ति उक्त रस्सी को एक ओर से खींचने और दूसरी ओर से कुछ ढीली करने के सामान है, तथा उससे होने वाला बन्ध और सविपाक निर्जरा उक्त रस्सी के बंधने और उकलने के समान है। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार मथानी में लिपटी हुई रस्सी को एक ओर खींचने और दूसरी ओर से ढीली करने पर वह रस्सी बंधती व उकलती ही रहती है तथा इस प्रकार से वह मन्थनदण्ड बराबर घूमता ही रहता है उसे विश्रान्ति नहीं मिलती। हां, यदि उस रस्सी को एक ओर से सर्वथा छोडकर दूसरी ओर से पूरा ही खींच लिया जाय तो फिर उसका इस प्रकार से बंधना और उकलना चालू नहीं रह सकेगा। तब मन्थनदण्ड स्वयमेव स्थिर परिभ्रमण से रहित हो जायेगा। ठीक इसी प्रकार से जब तक जीव की राग-द्वेष रूप प्रवृत्ति चालू रहती है तब तक वह कर्मों का बन्ध करके और उनका फल भोगकर निर्जरा भी करता ही रहता है। कारण यह कि राग-द्वेष से जिन नवीन कर्मों का बंध होता है उनके उदय में आने पर जीव तत्कृत सुख-दुःख रूप फल को भोगता हुआ फिर भी राग-द्वेष रूप परिणमन करता है। इस प्रकार से यह क्रम जब तक चालू रहता है तब तक प्राणी चतुर्गति-रूप इस संसार में परिभ्रमण करता ही रहता है। परन्तु यदि वह राग-द्वेष से बांधे गये उन कर्मों को तपश्चरणादि के द्वारा अविपाक निर्जरा स्वरूप से नष्ट कर देता है तो फिर राग-द्वेष रूप परिणति से रहित हो जाने के कारण उसके नवीन कर्मों का बंध नहीं होता है। और तब संवर एवं निर्जरा के आश्रय से उसका संसार परिभ्रमण भी नष्ट हो जाता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि जब तक प्राणी राग-द्वेष रूपी परिणमन करता है,

तब उसका चित्त स्थिर नहीं रह सकता है, और जब तक चित्त स्थिर नहीं होता है तब तक ध्यान की प्राप्ति नहीं हो सकती है। अतएव ध्यान की प्राप्ति के लिए राग-द्वेष से रहित होना अनिवार्य है।

मुच्यामानेन पाशेन भ्रान्तिर्बन्धश्च मन्थवत्।
जन्तोस्तथासौ मोक्तव्यो येनाभ्रान्तिरबन्धनम्।(179)

छोडी जाने वाली रस्सी की फांसी के द्वारा मथानी के समान जीव के नवीन बन्ध और परिभ्रमण चालू रहता है। अतएव उसको इस प्रकार से छोडना चाहिए कि जिससे फिर से बन्ध और परिभ्रमण न हो सके। जिस प्रकार मथानी में फांसी के समान लिपटी हुयी रस्सी यदि एक ओर से खींचने के साथ दूसरी ओर से ढीली की जाती है तब तो मथानी का बंधना व घूमना बराबर चलता ही रहता है। किन्तु यदि उस रस्सी को दोनों ओर ढीला कर दिया जाता है तो फिर मथानी के घमने की क्रिया सर्वथा बंद हो जाती है। ठीक इसी प्रकार से जीव की फाँसी स्वरूप सम्बद्ध कर्म को यदि सविपाक निर्जरा के द्वारा राग-द्वेष रूप प्रवृत्ति के साथ छोड़ते हैं-निर्जीण करते हैं तब तो जीव के नवीन कर्मों का बन्ध और संसार परिभ्रमण पूर्ववत् बराबर चालू रहता है। परन्तु यदि उक्त कर्मरूप फांसी को अविपाक निर्जरा पूर्वक राग-द्वेष से रहित होकर छोडा जाता है तो फिर उसके नवीन कर्मों का बन्ध और संसार परिभ्रमण दोनों ही रूक जाते हैं। अतएव सविपाक निर्जरा हेय और अविपाक निर्जरा उपादेय है, यह अभिप्राय यहाँ ग्रहण करना चाहिए।

रागद्वेष कृताभ्यां जन्तोर्बन्धः प्रवृत्त्य वृत्तिभ्याम्।
तत्वज्ञान कृताभ्यां ताभ्यामेवेक्ष्यते मोक्षः।। (180)

राग और द्वेष के द्वारा की गयी प्रवृत्ति और निवृत्ति से जीव के बन्ध होता है तथा तत्वज्ञान पूर्व की गई उसी प्रवृत्ति और निवृत्ति के द्वारा उसका मोक्ष देखा जाता है।

जीव जब तक बाह्य पर पदार्थों में इष्ट और अनिष्ट की कल्पना करता है तब तक उसके जिस प्रकार इष्ट पदार्थ के संयोग में हर्ष और उसके वियोग में विषाद होता है इसी प्रकार अनिष्ठ पदार्थों के संयोग में द्वेष और उसके वियोग में हर्ष भी होता है।

इस प्रकार से जब तक उसकी इष्ट वस्तु के ग्रहणादि में प्रवृत्ति और अनिष्ट वस्तु के विषय में निवृत्ति होती है तब तक उसके कर्मों का बन्ध भी अवश्य होता है। इसके विपरीत जब वह तत्त्व ज्ञान पूर्वक अनिष्ट हिंसा आदि के परिहार और इष्ट (तप-संयम आदि) के ग्रहण में प्रवृत्त होता है तब उसके नवीन कर्मों के बन्ध का अभाव (संवर) और पूर्व संचित कर्मों की निर्जरा होकर मोक्ष की प्राप्ति होती है। इसलिए यह ठीक ही कहा गया है कि 'रागी बन्धाति कर्माणि वीतरागो विमुच्यते।' अर्थात् रागी जीव तो कर्म बांधता है और वीतरागी उससे मुक्त होता है-निर्जरा करता है। इसी प्रकार पुरुषार्थ सिद्धयुपाय (212-214) में भी राग को बन्ध का कारण और रत्नत्रय को बन्धाभाव का कारण बतलाया गया है।

द्वेषानुरागबुद्धिर्गुणदोषकृता करोति खलु पापम्।
तद्विपरीता पुण्यं तदुभयरहिता तयोर्मोक्षम्।।(181)

गुण के निमित्त से की गई द्वेष बुद्धि तथा दोष के निमित्त से की गई अनुराग बुद्धि, इनसे पाप का उपार्जन होता है। इसके विपरीत गुण के निमित्त से होने वाली अनुराग बुद्धि और दोष के निमित्त से होने वाली द्वेष बुद्धि से पुण्य का उपार्जन होता है तथा उन दोनों से रहित-अनुराग-बुद्धि और द्वेष बुद्धि के बिना उन दोनों (पाप-पुण्य) का मोक्ष अर्थात् संवर पूर्वक निर्जरा होती है। जीव की प्रवृत्ति तीन प्रकार की होती है- अशुभ, शुभ और शुद्ध इनमें अशुभ प्रवृत्ति व्रत-संयमादि से द्वेष रखकर दुर्व्यसनादि में अनुराग रखने से होती है और वह पापबन्धन की कारण होती है। इसके विपरीत शुभ प्रवृत्ति उन दुर्व्यसनादि को अनिष्ट समझकर व्रत-संयमादि में अनुराग रखने से होती है और वह पुण्य बन्ध का ही कारण है इनके अतिरिक्त राग और द्वेष इन दोनों से रहित हेकर जो आत्मध्यानरूप जीव की प्रवृत्ति होती है वह है उसकी शुद्ध प्रवृत्ति और वह उपर्युक्त पाप और पुण्य दोनों के ही नाश का कारण होती है यह अन्तिम प्रवृत्ति (शुद्धोपयोग) ही जीव को उपादेय है। परन्तु जब तक वह शुद्धोपयोग रूप प्रवृत्ति सम्भव नहीं है तब तक जीव के लिए उस अशुभ प्रवृत्ति को छोड़कर शुभ प्रवृत्ति को अपनाना भी योग्य है परन्तु अशुभ प्रवृत्ति तो सर्वथा और सर्वदा हेय ही है। उदाहरण के रूप में जैसे ब्रह्मचर्य सर्वथा और सर्वदा ही उपादेय है

परन्तु जो उसका सर्वथा पालन नहीं कर सकता है उसके लिए वह भी अच्छा है कि किसी योग्य कन्या को सहधर्मिणी के रूप में स्वीकार करके अन्य स्त्रियों की ओर से विरक्त होता हुआ केवल उसी के साथ अनासक्ति पूर्वक विषय सुख का अनुभव करे। इसके विपरीत स्वस्त्री यह सर्वथा ही निन्द्य समझा जाता है उसकी प्रशंसा कभी भी किसी के द्वारा नहीं की जाती है। बस यही भाव यहाँ अशुभ, शुभ और शुद्ध उपयोग के विषय में समझना चाहिये।

मोहबीजाद्रतिद्वेषौ बीजान्मूलाङ कुराविव।
तस्माज्ज्ञानाग्निना दाह्यं तदेतौ निर्दिधिक्षुणा।। (182)

जिस प्रकार बीज से जड और अंकुर उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार मोह रूप बीज से राग और द्वेष उत्पन्न होते हैं। इसलिये जो इन दोनों (राग-द्वेष) को जलाना चाहता है उसे ज्ञान रूप अग्नि के द्वारा उस मोह रूप बीज को जला देना चाहिए। जिस प्रकार वृक्ष की जड और अंकुर का कारण बीज है उसी प्रकार राग-द्वेष की उत्पत्ति का कारण मोह (अविवेक) है। अतएव जो वृक्ष के अंकुर और जड को नहीं उत्पन्न होने देना चाहता है वह जिस प्रकार उक्त वृक्ष के बीज को ही जला देता है उसी प्रकार जो आत्महितैषी उन राग और द्वेष को नहीं उत्पन्न होने देना चाहता है उसे उनके कारण भूत उस मोह को ही सम्यग्ज्ञान रूप अग्नि के द्वारा जलाकर नष्ट कर देना चाहिए। इस प्रकार से वे राग-द्वेष फिर न उत्पन्न हो सकेंगे।

पुराणो ग्रहदोषोत्थो गम्भीरः सगतिःसरुक्।
त्यागजात्यादिना मोहव्रणः शुद्ध्यति रोहति।।(183)

मोह एक प्रकार का घाव है, क्योंकि वह घाव के समान ही पीडा कारक है। जिस प्रकार पुराना (बहुत समय का), शनि आदि ग्रह के दोष से उत्पन्न हुआ, गहरा नस से सहित और पीडा देने वाला घाव औषधयुक्त घी (मलहम) आदि से शुद्ध होकर-पीव आदि से रहित होकर भर जाता है। उसी प्रकार पुराना अर्थात् अनादि काल से जीव के साथ रहने वाला, परिग्रह के ग्रहण रूप दोष से उत्पन्न हुआ, गम्भीर (महान्) नरकादि दुर्गति का कारण और आकुलता रूप रोग से सहित ऐसा वह घाव के समान कष्ट दायक मोह भी उक्त परिग्रह के परित्याग रूप मलहम से शुद्ध होकर (नष्ट होकर) उर्ध्वगमन (मुक्ति प्राप्ति) में सहायक होता है।

हानेःशोकस्ततो दुःखं लाभाद्रागस्ततः सुखम्।
तेन हानावशोकः सन् सुखी स्यात्सर्वदा सुधीः।। (186)

इष्ट वस्तु की हानि से शोक और फिर उससे दुःख होता है तथा उसके लाभ से राग और फिर उससे सुख होता है। इसीलिए बुद्धिमान मनुष्य को इष्ट की हानि में शोक से रहित होकर सदा सुखी रहना चाहिए। दुःख का कारण शोक और उस शोक का भी कारण इष्ट सामग्री का अभाव है। इसी प्रकार सुख का कारण राग और उस राग का भी कारण उक्त इष्ट सामग्री की प्राप्ति है। परन्तु यथार्थ में विचार करे तो कोई बाह्य पदार्थ न तो इष्ट है और न अनिष्ट भी-यह भी अपनी रूची के अनुसार प्राणी की कल्पना मात्र है। कहा भी है-

अनादि सति संसारे कास्य केन न बन्धुता।
सर्वथा शत्रुभावश्च सर्वमेतद्धि कल्पना।। क्ष.चू.

अर्थात् संसार अनादि है। उसमें जो किसी समय बन्धु रहा है वही अन्य समय में शत्रु भी रह सकता है। इससे यही निश्चित होता है कि इस अनादि संसार में न तो वास्तव में कोई मित्र है और न कोई शत्रु भी। यह सब प्राणी की कल्पना मात्र है। इसीलिए विवेकी जन ममत्व बुद्धि से रहित होकर इष्ट की हानि में कभी शोक नहीं करते। इससे वे सदा ही सुखी रहते हैं।

विषयविरतिः संगत्यागः कषायविनिग्रहः
शमयमदमास्तत्त्वाभ्यासस्तपश्चरणोद्यमः।
नियमितमनोवृत्तिर्भक्तिर्जिनेषु दयालुता
भवति कृतिनःसंसाराब्धेस्तटे निकटे सति।। (224)

इन्द्रिय विषयों से विरक्ति, परिग्रह का त्याग, कषायों का दमन, राग-द्वेष की शांति, यम-नियम, इन्द्रिय दमन, सात तत्त्वों का विचार, तपश्चरण में उद्यम, मन की प्रवृति पर नियन्त्रण, जिन भगवान् में भक्ति, और प्राणियों पर दया भाव; ये सब गुण उसी पुण्यात्मा जीव के होते हैं जिसके कि संसार रूप समुद्र का किनारा निकट में आ चुका है।

यमनियमनितान्तःशान्तबाह्यान्तरात्मा।
परिरणमितसमाधिः सर्वसत्त्वानुकम्पी।

विहितहितमिताशी क्लेशजालं समूलं
दहति निहतनिद्रो निश्चिताध्यात्मासारः।।(225)

जो यम-यावजीवन धारण किये गये व्रत तथा नियम में परिमित काल के लिये धारण किये गये व्रत में उद्यत है, जिसकी अन्तरात्मा (अन्तःकरण) बाह्य इन्द्रिय विषयों से निवृत्त हो चुकी है, जो ध्यान में निश्चल रहता है, सब प्राणियों के विषय में दयालु है, आगमोक्त विधि से हितकारक (पथ्य) एवं परिमित भोजन को ग्रहण करने वाला है, निद्रा से रहित है, तथा जो आध्यात्म के रहस्य को जान चुका है; ऐसा जीव समस्त क्लेशों के समूह को जड़मूल से नष्ट कर देता है।

समाधिगतसमस्ताः सर्वसावद्यदूरः
स्वहितनिहितचित्ताः शान्तसर्वप्रचाराः।
स्वपररसफलजल्पाः सर्व संकल्पमुक्ताः
कथ्यमिह न विमुक्तेर्भाजनं ते विमुक्ताः।।(226)

जो समस्त हेय उपादेय तत्त्व के जानकार है, सब प्रकार की पाप क्रियाओं से रहित हैं, आत्महित में मन को लगाकर समस्त इन्द्रिय व्यापार को शान्त करने वाले हैं स्व और पर के लिए हितकर वचन का व्यवहार करते हैं तथा सब संकल्पों-विकल्पों से रहित हो चुके हैं; ऐसे वे मुनि यहाँ कैसे मुक्ति के पात्र न होंगे ? अवश्य होंगे।

भावयामी भवावर्ते भावनाः प्रागभाविताः।
भावये भाविता नेति भवाभावाय भावनाः।। (238)

मैंने संसार रूप भँवर में पड़कर पहिले कभी जिन सम्यग्दर्शन आदि भावनाओं का चिन्तन नहीं किया है उनका अब चिन्तन करता हूँ और जिन मिथ्यादर्शनादि भावनाओं का बार-बार चिन्तन कर चुका हूँ उनका अब में चिन्तन नहीं करता हूँ। इस प्रकार मैं अब पूर्व भावित भावनाओं को छोड़कर उन अपूर्व भावनाओं को भाता हूँ, क्योंकि, इस प्रकार की भावनायें संसार विनाश का कारण होती है।

शुभाशुभे पुण्यपापे सुखदुःखे च षट् त्रयम्।
हितमाद्यमनुष्ठेयं शेष त्रयमथाहितम्।। (239)

शुभ और अशुभ, पुण्य और पाप तथा सुख और दुःख, इस प्रकार यह छह हुए। इन छहों के तीन युगलों में से आदि के तीन-शुभ, पुण्य और सुख-आत्मा के

लिए हितकारक होने से आचरण के योग्य है तथा शेष तीन अशुभ, पाप और दुःख अहित कारक होने से छोड़ने के योग्य है। अभिप्राय यह है कि जिन पूजनादि रूप शुभ क्रियाओं के द्वारा पुण्य कर्म का बन्ध होता है और उस पुण्य कर्म के उदय के प्राप्त होने पर उससे सुख की प्राप्ति होती है। इस के विपरीत हिंसा एवं असत्यसंभाषणादिरूप अशुभ क्रियाओं के द्वारा पाप का बन्ध होता है और उस पाप कर्म के उदय के प्राप्त होने पर उससे दुःख की प्राप्ति होती है। इसलिए उक्त छह में से शुभ, पुण्य और सुख ये तीन उपादेय तथा अशुभ, पाप और दुख ये तीन हेय हैं।

तत्राप्याद्यंपरित्याज्यं शेषौ न स्तः स्वतःस्वयम्।
शुभं च शुद्धे व्यक्त्वान्ते प्राप्नोति परमं पदम्।।(240)

पूर्व श्लोक में जिन तीन-को-शुभ, पुण्य और सुख को-हितकारक बतलाया है उनमें भी प्रथम का (शुभ का) परित्याग करना चाहिए। ऐसा कहने से शेष रहे पुण्य और सुख ये दोनों स्वयं ही नहीं रहेंगे, इस प्रकार शुभ को छोडकर और शुद्ध स्वभाव में स्थित होकर जीव अन्त में उत्कृष्ट पद (मोक्ष) को प्राप्त हो जाता है।

ऊपर जो इस श्लोक का अर्थ लिखा गया है वह संस्कृत टीकाकार श्री प्रभाचन्द्रचार्य के अभिप्रायानुसार लिखा गया है। उपर्युक्त श्लोक का अर्थ इस प्रकार किया जा सकता है- श्लोक 239 में जो अशुभ, पाप और दुःख ये तीन अहितकारक बतलायें गये हैं उनमें भी प्रथम अशुभ का ही त्याग करना चाहिए। कारण यह है कि ऐसा होने पर शेष दोनों पाप और दुःख-स्वयमेव नहीं रह सकेंगे, क्यों इनका मूल कारण अशुभ ही है। इस प्रकार जब मूल कारण भूत वह अशुभ न रहेगा तब उसका साक्षात् कार्य भूत पाप स्वयमेव नष्ट हो जाएगा, और जब पाप ही न हो तो उसके कार्य भूत दुःख की भी कैसे सम्भावना की जा सकती है- नहीं की जा सकती है। इस प्रकार उक्त अहित कारक तीन के नष्ट हो जाने पर शेष तीन जो शुभादि हितकारक रहते हैं वे भी वास्तव में हितकारक नहीं है उनको जो हितकारक व अनुष्ठेय ही बतलाया गया है यथार्थ में तो वे परतन्त्रता के ही कारण हैं। भेद इतना ही है कि जहाँ अशुभादिक जीव को नारक एवं तिर्चंय प्राप्त कराकर केवल दुःख का ही अनुभव कराते है वहाँ वे शुभादिक उसको मनुष्यों और देवों में उत्पन्न कराकर दुःख मिश्रित

सुख का अनुभव कराते हैं। इसीलिये यहाँ बतलाया है कि उन अशुभादिक तीन को छोड देने के पश्चात् शुद्धोपयोग में स्थित होकर उस शुभ को छोड देना चाहिए। इस प्रकार अन्त में उस शुभ के अविनाभावी पुण्य व संसारिक सुख के भी नष्ट हो जाने पर जीव उस निर्बाध मोक्ष पद को प्राप्त कर लेता है। जो कि अनन्त काल तक स्थिर रहने वाला है।

मिथ्यात्वोपचितात्स एवं समलः कालदिलाब्धाँ क्वचित्।
सम्यक्त्वव्रतदक्षताकलुषतायोगैः क्रमान्मुच्यते।।(241)

आत्मा है और वह अनादि परम्परा से प्राप्त हुए बन्धनों में स्थित है। बन्धन मन, वचन, एवं शरीर की शुभाशुभ क्रियाओं रूप आस्रवों से प्राप्त हुए है; वे आस्रव क्रोधादि कषायों से किये जाते हैं; वे क्रोधादि प्रमादों से उत्पन्न होते हैं और प्रमाद मिथ्यात्व से पुष्ट हुई अविरति के निमित्त से होते हैं। वही कर्म-मल से सहित आत्मा किसी विशिष्ट पर्याय में कालादिलब्धि के प्राप्त होने पर क्रम से सम्यग्दर्शन, व्रत, दक्षता अर्थात् प्रमादों का अभाव, कषायों का विनाश और योग निरोध के द्वारा उपर्युक्त बन्धनों से मुक्ति पा लेता है।

चार्वाक आत्मा का अस्तित्व स्वीकार नहीं करते हैं। उनका अभिप्राय है कि जिस प्रकार कोयला, अग्नि, जल एवं वायु आदि के संयोग से जो प्रबल वाष्प उत्पन्न होती है वह भारी रेलगाडी आदि को भी चलाने में समर्थ होती है उसी प्रकार पृथिवी आदि चार भूतों के संयोग से वह शक्ति उत्पन्न होती है जो शरीर की गमनागमनादि क्रियाओं एवं पदार्थों के जानने देखने आदि में सहायक होती है। उसे ही चेतना शब्द से कहा जाता है। और वह जब तक उन भूतों का संयोग रहता है तभी तक (जन्म से मरण पर्यन्त) रहती है, न कि उससे पूर्व और पश्चात् भी। उनके इस मत के निराकरणार्थ यहाँ श्लोक में सबसे पहिले' अस्त्यात्मा' कहकर यह प्रमाणित किया है कि आत्मा नाम से प्रसिद्ध कोई वस्तु अवश्य है। यदि आत्मा न होता तो बहुतों को अपने पूर्व जन्म का स्मरण हो जाता है वह नहीं होना चाहिए। इसके अतिरिक्त भूत-पिशाच आदि को भी अपने और दूसरों के पूर्वभवों को बतलाते हुए देखा जाता है, इससे सिद्ध होता है कि आत्मा नाम की कोई वस्तु अवश्य है जो विवक्षित जन्म के

पूर्व में भी और मरण के पश्चात् भी रहती है। इसी प्रकार सांख्य आत्मा को स्वीकार करके भी उसे सर्वदा शुद्ध-कर्म से अलिप्त मानते हैं। उसके निराकरणार्थ यहाँ उस आत्मा को अनादि बन्धनगत निर्दिष्ट किया है। इसका अभिप्राय यह है कि शुद्ध स्वभाव की अपेक्षा यद्यपि प्रत्येक आत्मा कर्म से अलिप्त होकर अपने ही शुद्ध चैतन्यरूप द्रव्य में अवस्थित है। स्वभाव से एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य के उपर कोई प्रभाव नहीं पडता है। जैसे-सुवर्ण में यदि तांबे का मिश्रण भी हो तो भी सुवर्ण परमाणु सुवर्ण स्वरूप से और तांबे के परमणु तत्स्वरूप से ही अपनी पृथक-पृथक स्वतन्त्र सत्ता रखते हैं। यही कारण है जो सुनार के द्वारा उन दोनों को पृथक् कर दिया जाता है। किन्तु यह द्रव्य के उस शुद्ध स्वभाव की अपेक्षा ही सम्भव है, न कि वर्तमान अशुद्ध पर्याय की अपेक्षा भी। पर्याय की अपेक्षा तो संसारी आत्मा अनादि सन्तति स्वरूप से आने वाले नवीन नवीन कर्मों के बन्ध से सम्बद्ध ही रहता है। और जब यह पर्याय की अपेक्षा कर्मबन्धन में बद्ध होकर अपने शुद्ध चैतन्य स्वभाव में स्थिर रखने के लिए प्रयत्न करना-तपश्चरण आदि करना उचित है। यदि वह द्रव्य के समान पर्याय से भी शुद्ध हो तो फिर तपश्चरणादि व्यर्थ ठहरते हैं। अतएव यही समझना चाहिए कि वह आत्मा जिस प्रकार स्वभाव से शुद्ध है उसी प्रकार पर्याय की अपेक्षा वह अशुद्ध भी है। अब जब वह पर्याय से अशुद्ध या कर्मबन्ध से सहित है तब यह प्रश्न उठता है कि कब से वह कर्म बन्धन में बद्ध है तथा किस प्रकार वह उससे छूट सकता है। इसके उत्तर में यहाँ यह बतलाया है कि वह अनादि से उस कर्मबन्धन में बद्ध है। उसके इस कर्म बन्धन के कारण मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग हैं। इनमें पूर्व-पूर्व कारण के रहने पर उत्तर-उत्तर कारण अवश्य रहते हैं। जैसे यदि मिथ्यात्व है तो आगे के अविरति आदि चार कारण अवश्य रहेंगे, इसी प्रकार यदि अविरति है तो उसके आगे के प्रमाद आदि तीन कारण अवश्य रहेंगे। इसी प्रकार आगे भी समझना चाहिए। यही बात यहाँ प्रकारान्तर से प्रकृत श्लोक में निर्दिष्ट की गई है। यह बन्ध की परम्परा बीज और अंकुर के समान अनादि से है। जिस प्रकार बीज से अंकुर व उससे पुनः बीज उत्पन्न होता है; इस प्रकार से जैसे इनकी परम्परा अनादि है उसी प्रकार उपर्युक्त मिथ्यात्वादि से कर्म बन्ध और फिर उससे पुनः मिथ्यात्वादि उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार यह बन्ध परम्परा भी अनादि है। परन्तु जिस प्रकार बीज

या अंकुर में से किसी एक के नष्ट हो जाने पर वह अनादि भी बीजांकुर की परम्परा नष्ट हो जाती है उसी प्रकार उन मिथ्यात्वादि के विपरीत क्रम से सम्यग्दर्शन, व्रत, दक्षता, (अप्रमाद), अकलुषता (अकषाय) और अयोग अवस्था के प्राप्त हो जाने पर वह अनादि बन्ध परम्परा भी नष्ट हो जाती है। इस प्रकार से वह आत्मा मुक्ति को प्राप्त करता है।

ममेद महमस्येति प्रीतिरीतिरिवोत्थिताः।
क्षेत्रे क्षेत्रीयते यावत्तावत्काशा तपः फले।। (242)

'यह मेरा और मैं इसका हूँ' इस प्रकार का अनुराग जब तक-ईति के समान खेत (शरीर) के विषय में उत्पन्न खेत के स्वामी के समान-आचरण करता है तब तक तप के फलभूत मोक्ष के विषय में भला क्या आशा की जाती है? नहीं की जा सकती है।

अतिवृष्टि, अनावृष्टि, शलभ (टिड्डी) चूहा, तोता, स्वचक्र और परचक्र (अतिवृष्टिरनावृष्टिः शलभा मूषका शुकाः। स्वचक्रं परचक्रं च सप्रैता ईत्याः स्मृताः)

से सात इति मानी जाती हैं। जिस प्रकार इन इतियों में से कोई भी ईति यदि खेत के मध्य में उत्पन्न होती है तो वह उस खेत को (फसल को) नष्ट कर देती है। इससे वह कृषक कृषि के फल (अनाज) को नहीं प्राप्त कर पाता है। इसी प्रकार तपस्वी को यदि शरीर के विषय में अनुराग है और इसलिए यदि वह यह समझता है कि यह शरीर मेरा है और में इस का स्वामी हूँ तो उसका वह अनुराग इति के समान उपद्रवकारी होकर तप के फल को मोक्ष को नष्ट कर देता है।

मामन्यमन्यं मां मत्वा भ्रान्तो भ्रान्तौ भवार्णवे।
नान्योऽहमहमेवाहमन्योऽन्योऽहमस्ति न।।(243)

मुझ को (आत्मा को) अन्य शरीर आदि रूप तथा शरीरादि को मैं (आत्मा) समझकर यह प्राणी उक्त भ्रम के कारण अब तक संसार रूप समुद्र में घूमा है। वास्तव में मैं अन्य नहीं हूँ। शरीरादि नहीं हूँ, मैं मैं ही हूँ और अन्य (शरीरादि) अन्य ही है, अन्य मैं नहीं हूँ; इस प्रकार जब अभ्रान्तज्ञान (विवेक) उत्पन्न होता है तब ही प्राणी उक्त संसार रूप समुद्र के परिभ्रमण से रहित होता है।

अभिप्राय यह है कि जीव जब तक शरीर को ही आत्मा मानता है शरीर से भिन्न शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा को उस से पृथक् नहीं मानता है तब तक वह इस भ्रम के कारण पर पदार्थों में राग-द्वोष कर के कर्मोदय से संसार में परिभ्रमण करता हुआ दुःख सहता है। और जब उसका उपर्युक्त भ्रम हट जाता है- वह आत्मा को आत्मा एवं शरीर आदि पर पदार्थों को पर मानने लगता है तब वह राग-द्वेष से रहित होकर उक्त संसार परिभ्रमण से छूट जाता है।

बन्धो जन्मनि येन येन निबिडं निष्पादितो वस्तुना
बाह्यार्थ करतेःपुरा परिणत प्रज्ञात्मनः सांप्रतम्।
तत्तत्तन्निधनाय साधनामभू द्वैराग्यकाष्ठास्पृशो
दुर्बोधं हि तदन्यदेव विदुषामप्राकृतं कौशलम्।। (244)

संसार के भीतर बाह्य पदार्थों में अतिशय अनुराग रखने वाले जीव के पहिले जिस-जिस वस्तु के द्वारा दृढ बन्ध उत्पन्न हुआ था उसी के इस समय यथार्थ ज्ञान से परिणत होकर वैराग्य की चरम सीमा को प्राप्त होने पर वह वस्तु उक्त बन्ध के विनाश का कारण हो रही है। विद्वानों की वह अलौकिक कुशलता अनुपम ही है जो दुर्बोध है- बडे कष्ट से जानी जाती है। बन्ध के कारण राग द्वेष हैं। जीव के जब तक आत्म-पर विवेक प्रकट नहीं होता है तब तक उसके राग द्वेष की विषय भूत हुई पर वस्तुओं के निमित्त से बन्ध ही हुआ करता है परन्तु जब उसके वह आत्म-पर विवेक आविर्भूत हो जाता है तब वह पूर्व में जिन वस्तुओं से राग द्वेष करके दृढ कर्म बन्ध करता था वे ही अब उसकी चूंकि उपेक्षा की विषय भूत हो जाती हैं अतएव उन्हीं के निमित्त से अब उक्त बन्ध का विनाश-संवर और निर्जरा होने लगती है। यह ज्ञान और वैराग्य का ही महात्म्य है।

जैसे देशान्तर में भ्रमण करने वाले पुरुष को सर्वत्र इष्ट-मित्र मिलते हैं, उसी प्रकार इस जीव के भी जहाँ-जहाँ यह जन्म लेता है वही-वहीं बन्धु-बान्धव होते हैं। इस तरह इसने सब जीवों के साथ सब सम्बंध प्राप्त किये हैं। जो इस जन्म में माता है वही दूसरे जन्म में पत्नी होती है और पत्नी होकर पुनः माता बन जाती है। इस प्रकार संसार में सब सम्बंध परिवर्तनशील हैं। दूसरे भवों में सम्बन्ध बदलने की बात ही

क्या है। किन्तु धनदेव की माता वसन्ततिलका और बहन कमला, ये दोनों उसी भव में धनदेव की पत्नी हुई। कहा भी है-यदि एक शरीर धारण करने पर जीव अनेक अपवादों और दुःखों को पाता है और उससे मनोवेदना और उग्र पाप को बांधता हैं तब विषय सेवन के द्वारा पाप कर्म का उपार्जन करने वाला कौन पुरुष नाना शरीर धारण करने पर कैसे दुःख नहीं पाता है अर्थात् अवश्य दुःख पाता है मद से मत्त हाथी के द्वारा वेग पूर्वक किया गया प्रहार तथा बलशाली हाथ से छोडी गयी तीक्ष्ण तलवार क्या दुःख नहीं देते उससे भी अधिक दुःख विषय देते हैं। इसलिए तत्त्वज्ञानी जन विषयों को त्याग देते हैं। इस प्रकार यह लोकधर्म दुःखदायक है नीच गोत्र का बन्ध करने से राजा मरकर दास होता है और उच्च गोत्र का बन्ध करने से दास राजा होता है। इस प्रकार संसार में सब स्थान परिवर्तनशील है। विदेह देश का राजा सुभोग कुल,रूप, तेज में अधिक होते हुए भी अपने कर्मों से प्रेरित होकर विष्टाघर में कीट हुआ। कहा भी है-जो देव और मनुष्यों में प्रधान थे, जिनका शरीर सब ऋद्धियों से दीप्तिमान था, जिनका रूप चन्द्रमा की तरह मनोहर था, वे भी अन्य गति में कुल, रूप, धन और प्रताप से भ्रष्ट होकर दीन होते हैं। (भगवती आराधना)

शुभरूप, शुभगन्ध, और प्रशस्त तेजधारी महती ऋद्धि का धारक देव भी मनुष्य होकर गन्दे गर्भस्थान में वास करता है। जैसे आकाश में सहसा ही शीघ्रता से इन्द्रधनुष, बिजली और मेघ प्रकट होते हैं उसी प्रकार देवों का जन्म होता है। उनका शरीर अपवित्र वस्तुओं से रहित होता है, वात, पित्त और कफ से उत्पन्न होने वाले रोगों से रहित होता है। खेद और नींद से रहित होता है। उत्तमरूप, रस, गन्ध से युक्त होता है। वचन-विलास, हास-विलास, गति चेष्टा से लीला सहित होता है। वे देव ऐसा शरीर तत्काल प्राप्त कर लेते हैं। उसके पश्चात् गीत वाद्यों की पंक्ति तथा भेरी के शब्दो के साथ देव-देवांगना बडे हर्ष के साथ उनके पास जा, नमस्कार करके उनकी सेवा करते हैं। हास सहित स्निग्ध दृष्टि से युक्त सुन्दर चन्द्रमुख देवांगनाएँ खिले हुए कमल के समान तथा उत्तम लक्षणों से युक्त दक्षिण हाथों से उनका नमस्कार स्वीकार करती हैं।

भक्त भगवान् बनने हेतु भक्ति करे
(श्रद्धान युक्त भक्ति)
(सांसारिक कामना युक्त भक्ति केवल व्यापार-वृत्ति)

(चालः- आत्मशक्ति....)

''वन्दे तद्गुणलब्धये'' होती है भक्ति,
भक्ति न होती है केवल व्यापार वृत्ति।
देव शास्त्र गुरु श्रद्धा से भक्ति का प्रारंभ
श्रद्धा रहित भक्ति केवल नौकर का काम।। (1)

श्रद्धा बिना नहीं होता है सम्यक्दर्शन,
सम्यक्दर्शन व श्रद्धा परस्पर अभिन्न।
अष्ट गुण व अष्ट अंग से होता सम्पन्न
अष्ट दोषों से भी रहित होता है सम्यग्दर्शन।।(2)

अष्टद्रव्य व नवकोटि से करे श्रावक भक्ति।
अभिषेक पूजन विधान पंचकल्याण भी भक्ति।।
सप्तक्षेत्र में दान व वर्षायोगादि भी भक्ति।
पंचविध मोक्ष विनय भी होती है भक्ति।। (3)

''गुणगण कथनं व दोषवादे च'' होता है मौनम्।
स्वदोष दूर हेतु करे स्वनिन्दा गर्हा कथन।।
संसार के दुःखों से होता है संवेगपूर्ण।
संसार शरीर भोगों से होता वैराग्यपूर्ण।।(4)

क्रोध मान माया लोभ होते हैं उपशम।
सद्धर्मी प्रति वात्सल्य भाव से सम्पन्न।।
कामना रहित भक्ति से होती प्रभावना पूर्ण।
केवल आडम्बर भीड़ प्रदर्शन बोली नहीं प्रभावना।।(5)

शंका व आकांक्षा रहित निर्विचिकित्सा युक्त।
मूढ़ता रहित व परदोष उपगूहन से सहित।।

धर्म भ्रष्टों को धर्म मार्ग में प्रवर्तन सहित।
गुण स्तुति करे प्रसन्न भावना से सहित।। (6)

ज्ञान दर्शन चारित्र तप उपचार विनय-भक्ति।
मानसिक विकार रहित मानस विनय भक्ति।।
हित मित प्रिय पूज्य कथन है वाचनिक विनय भक्ति।
स्तुति, वैयावृत्ति, अनुकूल प्रवृत्ति, कायिक विनय भक्ति।। (7)

पूजा भक्ति स्तुति वन्दना अन्यथा व्यर्थ।
यांत्रिक रूप से काय केवल जो प्रवृत्त।।
धन जन मान सम्मान, निमित्त भक्ति अनर्थ।
'यस्मात् क्रिया प्रतिफलन्तिन भाव शून्याः'' उक्त।। (8)

बोधि समाधि परिणाम शुद्धि निमित्त भक्ति।
आत्मोपलब्धि व जिनगुण सम्पत्ति प्राप्ति निमित्त भक्ति।।
भक्ति से भगवान् बनने हेतु भक्ति विधेय।
शिवसौख्य सिद्धि हेतु भक्ति करे ''कनक श्रमण''।।(9)

सच्चि भक्ति से पापकर्म होता है दूर।
सातिशय पुण्य से मिले सुख अपार।।
परम्परा से भक्ति से मिलती मुक्ति ।
भुक्ति मुक्ति प्रदातार होती है सम्यक्भक्ति।। (10)
ग.पु. कॉ. 28.5.2020 रात्रि 12.15

प्रिय भक्तिः

स्वात्माभिमुख-संवित्ति, लक्षणं श्रुत-चक्षुषा,
पश्यन्पश्यामि देव त्वां केवलज्ञान-चक्षुषा।(1)

हे वीतराग जिनेन्द्र देव स्वकीय आत्मा के संवेदन रूप लक्षण से युक्त अथवा स्वसंवेदन लक्षण युक्त आपको श्रुतज्ञान के माध्यम से देखते हुए, आपके सामान्य स्वरूप का चिन्तन करता हुआ, मैं आज आपकी साक्षात् केवलज्ञान मण्डित अवस्था का ही दर्शन कर रहा हूँ। ऐसा मुझे अनुभव में आ रहा है। अथवा जो भव्य जीव श्रुतज्ञान रूप चक्षु से आगम के अनुसार आपकी आराधना करता है, वह केवलज्ञानरूपी

नेत्र से सर्वलोक का अवलोकन करता है अर्थात् केवलज्ञान को अवश्य प्राप्त करता है।

शास्त्राभ्यासो जिनपति-नुतिः, संगति सर्वदार्यैः,
सद्वृत्तानां गुणगण-कथा, दोषवादे च मौनम्।
सर्वस्यापि प्रियहितवचो भावना चात्मतत्त्वे,
संपद्यन्तां मम भवभवे यावदेतेऽपवर्गः।(2)

हे जिनेन्द्रदेव! मैं जब तक मुक्त अवस्था को प्राप्त न हो जाऊँ तब तक प्रत्येक भव में मैं जिनेन्द्रकथित सच्चे आगम का अभ्यास करता रहूँ। तब तक आपके चरणों में नतमस्तक हुआ, आपकी स्तुति करता रहूँ, हमेशा साधु मनुष्यों की, आर्य पुरुषों की संगति करता रहूँ। आपके चरणों की आराधना का एकमात्र फल यही हो कि रत्नत्रयधारियों, सदाचारियों के दोषों के कथन में मैं मौन रहूँ। प्राणीमात्र में हितकर-प्रिय वचनों से वार्तालाप करूँ और अन्त में यही प्रार्थना है कि मैं अपने आत्मतत्त्व की भावना मुक्ति-पर्यन्त भाता रहूँ।

जैनमार्गरुचिरन्यमार्ग निर्वेगता, जिनगुणस्तुतौ मतिः।
निष्कलंक विमलोक्ति भावनाः, संभवन्तु मम जन्म-जन्मनि।(3)

हे वीतराग प्रभो! मुक्तिपर्यन्त प्रत्येक भव में मुझ में जिनेन्द्रकथित रत्नत्रय-रूप मुक्ति मार्ग के प्रति अविचल श्रद्धा बनी रहे। एकान्त, मिथ्यामतों में या संसार-मार्ग में मेरी रुचि अत्यन्त दूर रहे। मेरी बुद्धि सदा जिनेन्द्रदेव के अनुपम अतुल गुणों के स्तवन में लगी रहे तथा निर्दोष, निष्कलंक, निर्मल ऐसी जिनेन्द्रवाणी-जिनवाणी मुझे जन्म-जन्म में प्राप्त होती रहे। यह प्रार्थना करता हूँ।

गुरुमूले यति-निचिते-चैत्यसिद्धान्त वार्धिसद्घोषे।
मम भवतु जन्म जन्मनि, सन्यसन् समन्वितं मरणम्।(4)

हे वीतराग जिनदेव! मेरी एकमात्र यही प्रार्थना है कि जब तक मुक्ति की प्राप्ति न हो तब तक मेरा भव-भव में ऐसे समागम में समाधिपूर्वक मरण हो जहाँ वीतरागी दिगम्बर साधुओं का समूह विराजमान हो, गुरु का पादमूल हो, व जिनप्रतिमा मेरे सामने हो तथा जिनेन्द्रकथित जैन सिद्धान्तरूपी समुद्र का जयघोष हो रहा हो।

जन्मजन्मकृतं पापं, जन्मकोटि समार्जितम्
जन्ममृत्युजरामूलं, हन्यते जिनवंदनात्।(5)

हे प्रभो! आपके वन्दन, दर्शन की महिमा अपार है। आपके चरण-कमलों की वन्दना करने से भव्यजीवों के अनेकों जन्मों से संचित पाप, जो जन्म-जरा-मृत्युरूपी तापत्रय के मूल हेतु हैं; एक क्षण मात्र में क्षय को प्राप्त हो जाते हैं।

आबाल्याज्जिनदेवदेव! भवतः, श्री पादयोःसेवया,
सेवासक्तविनेयकल्पतया, कालोऽद्ययावद्गतः।
त्वां तस्याः फलमर्थये तदधुना, प्राणप्रयाणक्षणे,
त्वन्नामप्रतिबद्धवर्णपठने, कण्ठोऽस्त्वकुण्ठो मम।(6)

हे वीतराग, देवाधिदेव, जिनेन्द्र प्रभो! मैंने बाल्यकाल से लेकर आज तक का समय आप वीतराग प्रभु की आराधना, अर्चना, वन्दना में व्यतीत किया। आपकी आराधना, श्रद्धावन्त भक्तों को इच्छित फल देने वाली कल्पलता है। आपकी आराधना आराधक को इष्ट का संयोग कराती है। हे प्रभो! आज मैं आपके श्रीचरणों में उस भक्ति और आराधना का अनुपम फल माँगने आया हूँ। वह मेरी याचना यह है कि ''हे प्रभो! प्राणों के विसर्जन काल में, मृत्यु की अन्तिम बेला में मेरा कण्ठ आपके गुणों का स्मरण करता रहे। अर्थात् अन्तिम क्षणों में मैं आपके नाम का उच्चारण करते हुए प्राणों का त्याग करूँ। मेरा कण्ठ एक क्षण के लिये भी अवरूद्ध न हो। ''हो सिद्ध-सिद्ध मुख में जब प्राण तन से निकले।'' बस यही भावना है।

तवपादो मम हृदये, मम हृदयं तव पदद्वये लीनम्।
तिष्ठतु जिनेन्द्र! तावद्यावन्निर्वाण संप्राप्तिः।(7)

हे देवाधिदेव जिनेन्द्र! मुझे जब तक निर्वाण पद की प्राप्ति हो तब तक आपके दोनों चरण-कमल मेरे हृदय स्थित हों तथा मेरा हृदय भी आपके चरण-कमलों में समर्पित रहे। मेरा हृदय आपके चरणों में ही स्थित रहे। अर्थात् मुक्ति की प्राप्ति पर्यन्त मैं आपका ही ध्यान करता रहूँ बस यही प्रार्थना है।

एकापि समर्थेयं, जिनभक्ति-दुर्गतिं निवारयितुम्।
पुण्यानि च पूरयितुं दातुं मुक्तिश्रियं कृतिनः।(8)

जिस कर्त्तव्यशील मानव ने देव शास्त्र-गुरु के चरणों में समर्पण दिया है जो षट् आवश्यक को पालन करने वाला है उसकी एकमात्र जिनेन्द्रभक्ति ही उसको नरक-तिर्यञ्च रूप अशुभ गतियों से बचाने के लिये, तीर्थंकर, चक्रवर्ती, देवेन्द्र जैसे महापुण्यों को पूर्ण करने तथा मुक्ति लक्ष्मी को प्राप्त कराने में पर्याप्त है। अर्थात् एक ही जिनभक्ति समस्त स्वर्ग-मोक्ष सुखों को देने में समर्थ हैं।

रयणत्तयं च वंदे, चउवीस जिणे च सव्वदा वंदे।
पञ्चगुरुणां वंदे, चारणचरणं सदा वंदे।(10)

हे वीतराग देव! मैं सदा रत्नत्रय की आराधना/वन्दना करता हूँ, प्रथम वृषभ तीर्थकर से अन्तिम महावीरपर्यन्त चौबीसों तीर्थंकरों को नमस्कार करता हूँ, अर्हंत्-सिद्ध आचार्य-उपाध्याय व सर्वसाधु पञ्चपरमेष्ठी रूप पञ्च महागुरुओं की सदा वन्दना करता हूँ तथा चारण ऋद्धि के धारक युगल मुनियों के चरणों की सदा आराधना, वन्दना-नमन, करता हूँ।

अर्हमित्यक्षरं ब्रह्म, वाचकं परमेष्ठिनः।
सिद्धचक्रस्य सद्बीजं सर्वतःप्रणिदध्महे।(11)

हम सिद्ध परमेष्ठी के ब्रह्मवाचक अर्हम् बीजाक्षर का सदा ध्यान करते हैं। तात्पर्य ''अर्हम्'' एक बीजाक्षर है। यह बीजाक्षर आत्मा के शुद्ध स्वरूप का वाचक है तथा शुद्ध आत्मतत्त्व की प्राप्ति करने वाले अनन्त सिद्धों का वाचक है। ऐसे इस बीजाक्षर का हम ध्यान करते हैं। समस्त भव्यात्माओं को भी इसका ध्यान अवश्य करना चाहिये।

कर्माष्टकविनिर्मुक्तं, मोक्षलक्ष्मीनिकेतनम्।
सम्यक्त्वादि गुणोपेतं, सिद्धचक्रं नमाम्यहम्।(12)

जिन्होंने ज्ञानावरण कर्म के क्षय से अनन्तज्ञान, दर्शनावरण के क्षय से अनन्तदर्शन, वेदनीय कर्म के क्षय से अव्याबाधत्व, मोहनीय के क्षय से अनन्तसुख, आयु के क्षय से अवगाहनत्व, नामकर्म के क्षय से सूक्ष्मत्व, गोत्रकर्म के क्षय से अगुरुलघुत्व तथा अन्तराय कर्म के क्षय से अनन्त वीर्य इस प्रकार आठ कर्मों के क्षय से आठ महागुणों को प्रकट कर लिया है, जो मोक्ष लक्ष्मी के घर, आलय, स्थान हैं ऐसे सिद्ध समूह, अनन्त सिद्ध परमेष्ठी भगवन्तों को मैं नमस्कार करता हूँ।

आकृष्टिं सुरसंपदां विदधते, मुक्तिश्रियो वश्यताम्,
उच्चाटं विपदां चतुर्गतिभुवां विद्वेषमात्मैनसाम्।
स्तम्भं दुर्गमनं प्रति प्रयततो, मोहस्य सम्मोहनम्,
पापात्पञ्च नमस्क्रियाक्षरमयी, साराधना देवता।(13)

पञ्चपरमेष्ठी वाचक अक्षरों से बना हुआ णमोकार मन्त्र महा-आराध्य मंत्र है। इन महामन्त्र की अपूर्व महिमा है। यह एक ही मंत्र आकर्षण, वशीकरण, उच्चाटन, विद्वेषण, स्तम्भन व सम्मोहन मंत्र है। इस महामंत्र की आराधना से देवों की विभूति का आकर्षण होता है अतः यह आकर्षण मंत्र है। आराधक के लिये मोक्ष लक्ष्मी वश हो जाती है अतः यह वशीकरण मन्त्र है। इसकी आराधना से आराधक के चतुर्गति संबंधी विपत्तियों का नाश होता है अतः यह उच्चाटन मन्त्र है। इस मन्त्र का आराधक आत्मा के द्वारा हुए राग-द्वेष-मोह आदि पापों को करने से भयभीत हो, उनमें अरति भाव को प्राप्त होता है अतः यह विद्वेषण मन्त्र है। इस मंत्र की आराधना करने वालों का नरक-तिर्यञ्च दुर्गतियों को जाने का द्वार बन्द हो जाता है, अतः यह स्तम्भन मन्त्र है। इस मंत्र के आराधक पुरुष का मोह स्वयं मूर्च्छित हो जाता है अतः संमोहन मन्त्र है। ऐसा महामन्त्र हमारी रक्षा करे।

अनन्तानन्त संसार, संततिच्छेद कारणम्।
जिनराजपदाम्भोज, स्मरणं शरणं मम। (14)

भावार्थ-वीतराग जिनेन्द्रदेव के चरण-कमलों का स्मरण स्तवन परम्परा का विच्छेद करने में समर्थ है। हे प्रभो! आप के चरण कमल ही मेरे लिये एकमात्र शरण हैं। ये ही मेरे रक्षक हैं। मेरी भव-बाधा को हरने वाले भी ये ही हैं।

अन्यथा शरणं नास्ति, त्वमेव शरणं मम।
तस्मात् कारुण्यभावेन, रक्ष-रक्ष जिनेश्वर!।(15)

हे वीतराग स्वामिन्! इस दुःखद संसार में आप ही मेरे शरण हैं, आप ही मेरे रक्षक हैं। आपको छोड़कर मेरा कोई अन्य शरण नहीं, रक्षक नहीं। प्रभो! अतः मुझ पर यह करुणा कीजिये। कारुण्य भाव से मुझे शरण दीजिये, मेरी रक्षा कीजिये।

नहित्राता नहित्राता, नहित्राता जगत्त्रये।
वीतरागात्परो देवो, न भूतो न भविष्यति।(16)

हे वीतराग प्रभो! तीनों लोकों में आपको छोड़कर अन्य कोई भी मेरा रक्षक नहीं है, नहीं है, नहीं है। वीतराग देव ही महादेव/देवाधिदेव हैं। इनसे बढ़कर अन्य कोई देव न भूतकाल में हुआ, न वर्तमान में कोई है और न ही भाविकाल में कोई होगा।

जिनेभक्ति-र्जिनेभक्ति-र्जिनेभक्ति-र्दिने दिने।
सदामेऽस्तु सदामेऽस्तु, सदामेऽस्तु भवे भवे।(17)

हे प्रभो! मेरी वीतराग देव, देवाधिदेव में भक्ति प्रतिदिन हो, भव-भव में हो, सदा काल हो। मैं सदाकाल आपकी भक्ति में भावना करता रहूँ।

याचेऽहं याचेऽहं, जिन! तव चरणारविंदयोर्भक्तिम्।
याचेऽहं याचेऽहं, पुनरपि तामेव तामेव।(18)

हे प्रभो! मैं बारम्बार आपके चरण-कमलों की भक्ति की याचना करता हूँ, उसी की प्राप्ति की बार-बार इच्छा करता हूँ। बस आपके चरण-कमलों में लगन लगी रहे यही याचना करता हूँ।

विघ्नौघाः प्रलयं यान्ति, शाकिनी-भूत पन्नगाः।।
विषो निर्विषतां याति स्तूयमाने जिनेश्वर।(19)

जिनेश्वरदेव की स्तुति करने से विघ्नों का जाल समाप्त हो जाता है, शाकिनी, भूत, सर्प आदि की बाधाएँ क्षण में क्षय को प्राप्त हो जाती है तथा भयानक विष भी दूर हो जाता है।

अञ्चलिका

इच्छामि भंते! समाहिभति काउस्सग्गो कओ, तस्सालोचेउं रयणत्तयसरूवपरमप्पज्झाणलक्खणं समाहिभत्तीये णिच्चकालं अंचेमि, पूजेमि, वंदामि, णमस्सामि, दुक्खक्खओ कम्मक्खओ, बोहिलाहो, सुगइगमणं, समाहिमरणं, जिणगुण सम्पति होउं मज्झं

हे भगवन्! मैंने समाधिभक्ति सम्बन्धी कार्योत्सर्ग किया उसकी आलोचना करने की इच्छा करता हूँ। समाधिभक्ति में रत्नत्रय के प्ररूपक शुद्ध परमात्मा के ध्यानरूप विशुद्ध आत्मा की मैं सदा अर्चा करता हूँ, पूजा करता हूँ, वन्दना करता हूँ,

नमस्कार करता हूँ। मेरे दुःखों का क्षय हो, कर्मो का क्षय हो, रत्नत्रय की प्राप्ति हो, सुगति में गमन व समाधिमरण हो तथा वीतराग जिनदेव के महागुणरूपी सम्पत्ति की मुझे प्राप्ति हो।

श्रावक के कर्त्तव्य-विनय वैयावृत्य पूजन

विनयःस्याद्वैयावृत्यं कायक्लेशस्तथार्चना।
कर्त्तव्या देशविरतैयथाशक्ति यथागमम्।। (82) गु. श्रावका.

देशसंयम के धारक को यथाशक्ति आगम के अनुसार विनय, वैयावृत्य, कायक्लेश और पूजन करना चाहिए।

दर्शनज्ञान चारित्रैस्तपसाऽप्युपचारताः।
विनय पञ्चधा सः स्यात्समस्तगुणभूषण।। (83)

अब प्रथम विनय का वर्णन करते हैं- दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और उपचार की अपेक्षा विनय पाँच प्रकार का है। यह विनयगुण समस्त गुणों का आभूषण है।

निःशङ्कितादयोऽपूर्वा ये गुणा वर्णिता मया।
यत्तेषां पालनं स स्याद्विनयो दर्शनात्मक।।(84)

सम्यग्दर्शन के निःशंकित आदि जो अपूर्व गुण मैंने पहले वर्णन किये हैं, उनका पालन करना सो दर्शन विनय है।

ज्ञान-ज्ञानोपकरण-ज्ञानवत्सु सुभक्तितः।
यत्पर्युपासनं शश्वत्स ज्ञानविनयो भवेत्।। (85)

ज्ञान की, ज्ञान-प्राप्ति के उपकरणों की और ज्ञानवानों की उत्तम भक्ति के साथ जो निरन्तर उपासना की जाती है वह ज्ञान विनय है।

पञ्चप्रकारचारित्रधारकाणां मुनीशिनाम्।
सन्मानं भवेद्यस्तु चारित्र विनयो हि सः।।(86)

पाँच प्रकार के चारित्र धारक मुनीश्वरों का जो सम्मान किया जाता है, वह चारित्र विनय है।

विहाय कल्पनां बालो वृद्धो वेति तपस्विनाम्।
यत्स्यादुपासनं शश्वत्तपसो विनयोहि सः।। (87)

यह बालक है तथा वृद्ध है, इस प्रकार की कल्पना को दूरकर तपस्वियों की जो सदा उपासना की जाती है वह तपविनय है।

मनोवाक्कायभेदेनोपचार विनयस्त्रिधा।
प्रत्यक्षेतरभेदेन सोऽपि स्याद् द्विविधःपुनः।। (88)

उपचार विनय मन वचन काय के भेद से तीन प्रकार का है। और यह तीनों ही प्रकार का उपचार विनय प्रत्यक्ष व परोक्ष के भेद से दो प्रकार का है।

दुर्ध्यानात्समाकृष्य शुभध्यानेन धार्यने।
मानसं त्वनिशं प्रोक्तो मानसो विनयोहि सः।। (89)

मन को दुर्ध्यान से खींचकर शुभध्यान में निरन्तर लगाया जाता है वह मानस विनय कहा जाता है।

वचनं हितं मितं पूज्यमनुवीचिवचोऽपि च।
यद्यतिमनुवर्तेत वाचिको विनयोऽस्तु सः।। (90)

हित, मित, पुज्य और आगम के अनुकूल प्रिय वचन बोलना, और यतिजनों के स्तुतिरूप अनुकूल वचन प्रवृत्ति करना सो वाचनिक विनय हैं।

गुरुस्तुति; क्रियायुक्ता नमनोच्चासनार्पणम्।
सम्मुखे गमनं चैव तथैवानुव्रजक्रिया।। (91)
अङ्गसंवाहनं योग्यप्रतिकारादिनिर्मितिः।।
विधीयते यतीनां यत्कायिको विनयो हि।। (92)

गुरुजनों की स्तवन-क्रिया में उद्यत होना, उन्हें नमस्कार करना, उच्चासन देना, उनको आते हुए देखकर सम्मुख जाना, उनके पीछे चलना, उनके अङ्गों को दबाना, तथा इसी प्रकार के मुनिराजों के योग्य प्रतिकार आदि करना सो यह कायिक विनय है।

प्रत्यक्षोऽप्ययमेतस्य परोक्षस्तु विनापि वा।
गुरुस्तदाज्ञयैव स्यात्प्रवृतिः धर्मकर्मसु।।(93)

गुरुजनों के सम्मुख उक्त तीनों प्रकार का विनय करना प्रत्यक्ष विनय है। गुरुजनों के बिना भी परोक्ष में मन-वचन-काय से विनय करना और उनकी आज्ञा के अनुसार ही धर्मकार्यों में प्रवृत्ति करना सो परोक्ष विनय है।

शशाङ्कनिर्मला कीर्त्तिःसौभाग्यं भाग्यमेव च।
आदेयवचनत्वं च भवेद्विनयतःसताम्।। (94)

विनय से सज्जनों को चन्द्रतुल्य निर्मल कीर्त्ति, सौभाग्य, भाग्यवानपन और आदेयवचनता प्राप्त होती है।

विनयेन समं किञ्चिन्नास्ति मित्रं जगत्त्रये।
यस्मात्तेनैव विद्यानां रहस्यमुपलभ्यते।। (95)

तीन जगत् में विनय के समान कोई अन्य मित्र नहीं है और इसी विनय के द्वारा गुरुजनों से विद्याओं का रहस्य प्राप्त होता है।

विद्वेषिणोऽपि मित्रत्वं प्रयान्ति विनयाद्यतः।
तस्मात्त्रेधा विधातव्यो विनयो देशसंयतैः।।(96)

इस विनय से शत्रु भी मित्रता को प्राप्त होते हैं अतः देशसंयमी श्रावकों को मन-वचन-काय से विनय धारण करना चाहिए।

बालवार्धक्यरोगादिक्लिष्टे सङ्घे चतुर्विधे।
वैयावृत्यं यथाशक्ति विधेयं देशसंयतैः।। (97)

अब वैयावृत्य का वर्णन करते हैं- चार प्रकार के संघ में बालक वृद्ध आदि के रोगादि से क्लेश को प्राप्त होने पर देश संयमी श्रावक को यथाशक्ति वैयावृत्य करना चाहिए।

वपुस्तपो बलं शीलं गतिबुद्धिसमाधयः।
निर्भयं नियमादि स्याद्वैयावृत्त्यकृतार्पणम्।। (98)

जो रोगादि से ग्रस्त साधु आदि की वैयावृत्त्य करता है वह उसे शरीर तप, बल, शील, गति, बुद्धि, समाधि, निर्भयता और नियमादि सभी कुछ समर्पण करता है।

वैयावृत्यकृतः किञ्चिद् दुर्लभं न जगत्त्रये।
विद्या कीर्त्तियशोलक्ष्मीः धीःसौभाग्यगुणेष्वपि।।(99)

वैयावृत्त्य करने वाले पुरुष के लिए तीन लोक में किसी भी वस्तु का पाना दुर्लभ नहीं है। वैयावृत्त्य करने वाले पुरुष को सौभाग्य गुणों के साथ विद्या, कीर्ति, यश, लक्ष्मी और बुद्धि प्राप्त होती है इसलिये श्रावक को सदा वैयावृत्य करना चाहिए।

उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य की व्यापकता

(जीवाजीव, शुद्धाशुद्ध, मूर्तिकामूर्तिक से पञ्चपरिवर्तन व भोजनचक्र आदि में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य अवश्यंभावी!)

चालः- 1. आत्मशक्ति ....2. क्या मिलिए....

उत्पाद व्यय व ध्रौव्य स्वरूप, यह है वैश्विक शाश्वत रूप।
इसके बिना कुछ न सम्भव, जीव-अजीव हो या शुद्ध-अशुद्ध।।
उत्पाद व्यय ध्रौव्य होता सत्य, गुण पर्ययवत् होता सत्य।
विश्व-प्रतिविश्व में यह व्याप्त, मूर्तिक अमूर्तिक द्रव्य में व्याप्त।।(1)....
संसार-मोक्ष में यह ही व्याप्त, द्रव्य-तत्त्व-पदार्थ में व्याप्त।
पिण्ड से ले ब्रह्माण्ड में व्याप्त, आत्मा से परमात्मा में व्याप्त।।
जन्म-मरण व सुख-दुःख में, अणु से ले महास्कन्ध में।
भ्रूण से लेकर वृद्ध तक में, भोजन से ले होता मल तक में।। (2)...

उदाहरण स्थूल से करूँ वर्णन, इससे जल-बर्फ-वाष्प निर्माण।
दूध से ले दही मट्ठा घी निर्माण, मिट्टी से बर्तन ईंट घर निर्माण।।
इसका वैश्विक रूप पञ्च परिवर्तन, द्रव्य क्षेत्र काल भाव निर्माण।
इसका छोटा रूप भौतिक ज्ञेय, इन्द्रिय ज्ञेय भौतिक विज्ञान मान्य।। (3)...

शरीर रचना तथा भोजनचक्र, भ्रूण से ले शव गलन तक।
प्रासुक अप्रासुक मर्यादा अमर्यादा, चारों प्रकार भोजन की जो मर्यादा।।
पचना-सड़ना या गलना क्रिया, उत्पाद व्यय ध्रौव्य मय प्रक्रिया।
उत्पाद बिना व्यय नहीं सम्भव, इसके बिना परिवर्तन नहीं सम्भव।। (4)

पुद्गल परिवर्तन इसका व्यापक रूप, पूरण गलनमय है पुद्गल द्रव्य।
संसार के हर जीव हर पुद्गल द्रव्य को, भोजन से मल तक किया सभी को।।
भक्ष्य-भक्षक बने हैं अनन्तबार, शत्रु मित्र भाई बन्धु बने अनन्त बार।
शोषक-शोषित-मालिक-मजदूर, चौरासी लक्ष योनियों मे बार-बार।। (5)

अप्रासुक भोजन बने सम्मूर्च्छन जीवों से, एकेन्द्रिय से पञ्चेन्द्रिय तक से।
इन जीवों से भोजन होता अमर्यादित, सड़न-गलन-दुर्गन्धित भोजन।।

त्रस (जीवों) के शवों में भी ऐसा होता, इसके बिना शव मम्मी बनते।
(अथवा) शव से धरती हो जाती व्याप्त, दुर्गन्ध-वीभत्स आधि-व्याधि व्याप्त।(6)

आस्रव-बन्ध-संवर-निर्जरा-मोक्ष, अशुभ शुभ-शुद्ध भाव में भी ज्ञेय।
उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य परस्पर अभिन्न, 'कनक सूरी' को यह सिद्धान्त मान्य।।(7)

(यह कविता After life-The science of decky से प्रभावित
ग.पु.कॉ. दि. 3.6.2020, मध्याह्न 1.23

संदर्भ

भुक्तोज्झिता मुहुर्मोहान्मया सर्वेऽपि पुद्गलाः।
उच्छिष्टेष्विव तेष्वद्य, मम विज्ञस्य का स्पृहा।।30।। इष्टो.

Again and agian, through delusions, have the bodies of matter been enjoyed and thrown off by me; how can I long for then nowthat I am endowed with true wisdom; for no one likes to eat the leavings.

मोह से अविद्या के वश से अनादिकाल से कर्मादि भाव को प्राप्त किये हुए मैंने संसारावस्था में समस्त पुद्गल को पुनः ग्रहण करके, अनुभव करके पश्चात् नीरस करके उसे उच्छिष्ट के समान (झूठन) त्याग कर दिया। जिस प्रकार भोजन, गंध, मालादि को स्वयं भोग करके सेवन करके त्याग करने के बाद उसे पुनः स्वीकार नहीं किया जाता, उसी प्रकार मैं अभी विज्ञ होकर तत्वज्ञान में परिणत होकर किस प्रकार सांसारिक पौद्गलिक द्रव्य में स्पृहा करूँगा? अर्थात् उसकी कामना करूँगा। अर्थात् किसी भी प्रकार से मैं सांसारिक पुद्गल जनित वस्तु में अभिलाषा नहीं करूँगा। हे वत्स! जब तू मोक्षार्थी हो तब तुम्हें निर्ममत्व की ही भावना भानी चाहिए।

समीक्षा- यह जीव अनादिकाल से द्रव्यादि पंच परिवर्तन रूपी संसार में भ्रमण करता हुआ विश्व के समस्त पुद्गलों को अनन्त बार भोजन, पानी, वस्त्र, भोगोपभोग की वस्तु, वायु, शरीर, वचन, मन कर्मादि रूप से ग्रहण किया और त्याग किया। इसी प्रकार क्षेत्र (आकाश-प्रदेश) काल (उत्सर्पणी-अवसर्पणी काल) भव (नरकादिभव) भाव (विभिन्न संकल्प-विकल्प) को भी प्राप्त किया और त्यागा है। इसलिए शरीरादि वस्तु कोई अभूतपूर्व नहीं है। कहा भी है

संसारो पंच-विहोदव्वे खेत्ते तहेव काले य।

भव-भमणो य चउत्वो पंचमओ भाव-संसारो।। (66)

अर्थः संसार, पाँच प्रकार का होता है- द्रव्य संसार, क्षेत्रसंसार, कालसंसार, भवसंसार और भावसंसार।

(1) द्रव्य संसार

बंधदि मुच्चदि जीवो पडिसमयं कम्म-पुग्गला विविहा।

णोकम्म-पुग्गला वि य मिच्छत्त-कसाय संजुत्तो।। (67)

मिथ्यात्व और कषाय से युक्त संसारी जीव प्रतिसमय अनेक प्रकार के कर्मपुद्गलों और नोकर्म पुद्गलों को भी ग्रहण करता और छोड़ता है।

कर्मबन्ध के पाँच कारण हैं- मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग, इनमें मिथ्यात्व और कषाय प्रधान हैं, क्योंकि वे मोहनीय कर्म के भेद हैं और सब कर्मों में मोहनीय कर्म ही प्रधान और बलवान है। उसके अभाव में शेष सभी कर्म केवल निस्तेज ही नहीं हो जाते, किन्तु संसार परिभ्रमण का चक्र ही रूक जाता है। इसीलिए आचार्य ने मिथ्यात्व और कषाय को ही ग्रहण किया है। मिथ्यात्व के पाँच भेद हैं और कषाय के पच्चीस भेद हैं। इन मिथ्यात्व और कषाय के आधीन हुआ संसारी जीव ज्ञानावरण आदि सात कर्मों के योग्य पुद्गल स्कन्धों को प्रतिसमय ग्रहण करता है। लोक में सर्वत्र कर्माणवर्गणाएँ भरी हुई हैं, उसमें से अपने योग्य को ही ग्रहण करता है तथा आयुकर्म सर्वदा नहीं बंधताः अतः सात ही कर्मों के योग्य पुद्गल स्कन्धों को प्रतिसमय ग्रहण करता है और अबाधाकाल पूरा हो जाने पर उन्हें भोगकर छोड देता है। जैसे प्रतिसमय कर्मरूप होने योग्य पुद्गल स्कन्धों को ग्रहण करता है वैसे ही औदारिक, वैक्रियिक और आहारक इन तीनों शरीरों की छह पर्याप्तियों के योग्य नोकर्म पुद्गलों को भी प्रतिसमय ग्रहण करता है और छोड़ता है। इस प्रकार जीव प्रति समय कर्मपुद्गलों और नोकर्म पुद्गलों को भी ग्रहण करता और छोड़ता है। किसी विवक्षित समय में एक जीव ने ज्ञानावरणादि सात कर्मों के योग्यपुद्गल स्कन्ध ग्रहण किए और अबाधाकाल बीत जाने पर उन्हें भोगकर छोड़ दिया। उसके बाद अनन्त बार अग्रहीत का ग्रहण करके अनन्त बार मिश्र का गृहण करके और अनंत बार गृहीत

का ग्रहण करके छोड़ दिया। उसके बाद जब वे ही पुद्गल वैसे ही रूप, रस, गन्ध,स्पर्श आदि भावों को लेकर, उसी जीव के वैसे ही परिणामों से पुनः कर्मरूप परिणत होते है उसे कर्मद्रव्य परिवर्तन कहते हैं, इसी तरह किसी विवक्षित समय में एक जीव ने तीन शरीरों की छः पर्याप्तियों के योग्य नोकर्म पुद्गल ग्रहण किए और भोगकर छोड़ दिये, पूर्वोक्त क्रम के अनुसार जब वे ही नोकर्मपुद्गल उसी रूप रस आदि को लेकर उसी जीव के द्वारा पुनः ग्रहण किये जाते है उस नोकर्मद्रव्य परिवर्तन को द्रव्य परिवर्तन या द्रव्य संसार कहते हैं। कहा भी है-

सर्वेऽपिपुद्गलाः खल्वेकेनात्तोज्झिताश्च जीवेन।
ह्यसकृद्वानन्तकृत्वः पुद्गलपरिवर्तन संसारे।।

पुद्गल परिवर्तनरूप संसार में इस जीव ने सभी पुद्गलों को क्रमशः अनन्त बार ग्रहण किया और छोड़ दिया। जो पुद्गल पहले ग्रहण किये हो उन्हें गृहीत कहते हैं। जो पहले ग्रहण न किये हो उन्हें अगृहीत कहते हैं। दोनों के मिलान को मिश्र कहते हैं- इनके ग्रहण का क्रम पूर्वोक्त प्रकार है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय में द्रव्य परिवर्तन के दो भेद किये गये हैं-बादर द्रव्य परिवर्तन और सूक्ष्म द्रव्य परिवर्तन। दोनों के स्वरूप में भी अन्तर है, जो इस प्रकार है- 'जितने समय में एक जीव समस्त परमाणुओं को औदारिक, वैक्रियक, तैजस, भाषा, आनप्राण, मन और कार्माणशरीर रूप परिणमनकर, उन्हें भोगकर छोड़ देता है, उसे बादर द्रव्य परिवर्तन कहते हैं और जितने समय में समस्त परमाणुओं को औदारिक आदि सात वर्गणाओं में से किसी एक वर्गणारूप परिणमनकर उन्हें भोगकर छोड़ देता है उसे सूक्ष्म द्रव्य परिवर्तन कहते हैं।

द्रव्य-परिवर्तन का वर्णन भगवती आराधना में भी निम्न प्रकार से किया।

'अण्ण गिण्हदि देहं तं पुण मुत्तूण गिण्हदे अण्णं।
घडिजंतं व य जीवो भमदि इमो दव्वसंसारे।।' (1768)

घटीयन्त्र की तरह जीव अन्य शरीर को छोड़कर अन्य शरीर को ग्रहण करता है। उसे भी छोडकर अन्य शरीर को ग्रहण करता है। जैसे घटीयन्त्र नया जल ग्रहण करता है उसे निकालकर फिर नया जल ग्रहण करता है। उसी प्रकार यह जीव शरीरों

को ग्रहण करता और छोडता हुआ भ्रमण करता है। द्रव्य शब्द से विचित्र से विचित्र शरीर कहे हैं। आत्मा के शरीरों का परिवर्तन द्रव्यसंसार है। ग्रन्थकार ने स्थूल बुद्धि वालों को लक्ष करके द्रव्यसंसार का यह स्वरूप कहा है, किन्तु द्रव्यपरिवर्तन इस प्रकार लेना।

द्रव्यपरिवर्तन के दो भेद है- नोकर्म परिवर्तन' और 'कर्म परिवर्तन'। उनमें से नोकर्म परिवर्तन इस प्रकार है- तीन शरीर और छह पर्याप्तियों के योग्य जो पुद्गल एक जीव ने एक समय ग्रहण किये, उनमें जैसा स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण रहा हो और तीव्र, मन्द या मध्यम भाव से वे ग्रहण किये गये हों,दूसरे आदि समयों में उन्हें भोगकर छोड दिया। उसके पश्चात् अनन्तवार अगृहीत को ग्रहण करके अनन्तवार मिश्र को ग्रहण करके मध्यम में गृहीत अगृहीत को अनन्तवार ग्रहण करके वे ही पुद्गल उसी जीव के उसी प्रकार से जब नोकर्म रूप प्राप्त होते हैं, उस सबको नोकर्म परिवर्तन कहते है। एक समय में एक जीव ने आठ कर्म-रूप से जो पुद्गल ग्रहण किये और एक समय अधिक एक आवली काल के पश्चात् द्वितीय आदि समयों में उन्हें भोगकर छोड दिया। नोकर्म परिवर्तन में कहे कर्म के अनुसार वे ही कर्मपुद्गल उसी जीव के उसी प्रकार से जब कर्मरूप से आते हैं उस सबको कर्मद्रव्य परिवर्तन कहते हैं।

2) क्षेत्र संसार

सो को वि णत्थि देसो, लोयालोयस्स णिरवसेसस्स।
जत्थ ण सव्व जीवो जादा मरिदो य बहुवारं।।(88)

समस्त लोकाकाश में ऐसा कोई भी प्रदेश नहीं है, जहाँ सभी जीव अनेक बार जिये और मरे न हों। यह लोक जगतश्रेणी का घनरूप है। सात राजू की जगतश्रेणी होती है। उसका घन 343 राजू होता है। इन तीन सौ तेतालीस राजुओं में सभी जीव अनेक बार जन्म ले चुके और मर चुके हैं। यही क्षेत्र परिवर्तन है। वह दो प्रकार का होता है- स्वक्षेत्र परिवर्तन और परक्षेत्र परिवर्तन। कोई सूक्ष्म निगोदिया जीव सूक्ष्म निगोदिया जीव की जघन्य अवगाहना को लेकर उत्पन्न हुआ और आयु पूर्ण करके मर गया। पश्चात् अपने शरीर की अवगाहना में एक-एक प्रदेश बढाते-बढाते महामत्स्य की अवगाहना पर्यन्त अनेक अवगाहना धारण करता है इसे स्वक्षेत्र परिवर्तन कहते हैं।

अर्थात् छोटी अवगाहना से लेकर बडी अवगाहना धारण करता है। इसे स्वक्षेत्र परिवर्तन कहते हैं। अर्थात् छोटी अवगाहना लेकर बडी अवगाहना पर्यन्त सब अवगाहनाओं को धारण करने में जितना काल लगता है उसको स्वक्षेत्र परिवर्तन कहते हैं। कोई जघन्य अवगाहना धारक सूक्ष्म निगोदिय लब्ध्यपर्याप्तक जीव लोक के आठ मध्य प्रदेशों को अपने शरीर के आठ मध्यप्रदेश बनाकर उत्पन्न हुआ। पीछे वही जीव उस ही रूप से उस स्थान में दूसरी तीसरी बार भी उत्पन्न हुआ। इसी प्रकार घनाङ्गुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण जघन्य अवगाहना के जितने प्रदेश हैं, उतनी बार उसी स्थान पर क्रम से उत्पन्न हुआ और श्वास के अट्ठारहवें भाग प्रमाण क्षुद्र आयु को भोगकर मरण को प्राप्त हुआ। पीछे एक एक प्रदेश बढाते-बढाते सम्पूर्ण लोक को अपना जन्म क्षेत्र; बना ले, यह परक्षेत्र परिवर्तन है। कहा है- 'समस्त लोक में ऐसा कोई क्षेत्र नहीं है, जहाँ क्षेत्र रूप संसार में परिभ्रमण करते हुए अनेक अवगाहनाओं को लेकर वह जीव क्रमशः उत्पन्न न हुआ हो।'

(श्वेताम्बर साहित्य में क्षेत्रपरावर्तन के भी दो भेद हैं- बादर और सूक्ष्म। कोई जीव भ्रमण करता करता आकाश के किसी एक प्रदेश में मरण करके पुनः किसी दूसरे प्रदेश में मरण करता है, फिर किसी तीसरे प्रदेश में मरण करता है। इस प्रकार जब वह लोकाकाश के समस्त प्रदेश में मर चुकता है, तो उतने काल को बादरक्षेत्र परावर्तन कहते हैं। तथा कोई जीव भ्रमण करता आकाश के किसी एक प्रदेश में मरण करके पुनः उस प्रदेश के समीपवर्ती दूसरे प्रदेश में मरण करता है पुनः उसके समीपवर्ती तीसरे प्रदेश में मरण करता है। इस प्रकार अनन्तर-अनन्तर प्रदेश में मरण करते-करते जब समस्त लोकाकाश के प्रदेशों में मरण कर चुकता है, तब सूक्ष्म क्षेत्र परावर्तन होता है।)

क्षेत्र परिवर्तन

जत्थ ण जादो ण मदो हवेज्ज जीवो अणंतसो चेव।
काले तदम्मि इमो ण सो पदेसो जए अत्थि।।(1770) भ.आ.

जगत् में ऐसा कोई प्रदेश नहीं है जहाँ यह जीव अतीत काल में अवान्तर जन्मा और मरा न हो। अन्य आचार्य क्षेत्रपरिवर्तन का स्वरूप इस प्रकार कहते हैं-

सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव सबसे जघन्य प्रदेश वाला शरीर लेकर लोक के आठ मध्य प्रदेशों को अपने शरीर के मध्यप्रदेश बनाकर उत्पन्न हुआ और क्षुद्र भव ग्रहण करके एक श्वास के अठारहवें भाग समय तक जिया और मरा। वही जीव पुनः उसी उसी अवगाहना को लेकर उसी स्थान में दुबारा उत्पन्न हुआ, तिबारा उत्पन्न हुआ, चौथी बार उत्पन्न हुआ। इस तरह अङ्गुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण आकाश में जितने प्रदेश होते हैं उतनी बार वहीं उत्पन्न हुआ। पुनः एक-एक प्रदेश बढाते-बढाते सर्वलोक को अपना जन्म क्षेत्र बनाया। इस सब को क्षेत्रपरिवर्तन कहते हैं। कहा भी हैं-

सव्वम्मि लोगखित्ते कमसो तं णत्थि जण्ण उप्पण्णं।
ओगाहणा य बहुसो परिभमिदो खित्तसंसारे।। (26वां. अणु.)

सर्व लोक क्षेत्र में ऐसा कोई स्थान नहीं है जहाँ यह क्रम से उत्पन्न नहीं हुआ। अनेक अवगाहना के साथ इस जीव ने क्षेत्र संसार में परिभ्रमण किया।

रंगगदणडो व इमो बहुविहसंठाणवण्णरूवाणि।
गिण्हदि मुच्चदि य ठिदं जीवो संसारमावण्णो।।(1769) भ.आ.

जैसे रंग भूमि में प्रविष्टि हुआ नट अनेक रूपों को धारण करता है उसी प्रकार द्रव्य संसार में भ्रमण करता हुआ जीव निरन्तर अनेक आकार, रूप, स्वभाव आदि को ग्रहण करता और छोडता है।

क्षेत्रसंसार रूपी स्पन्दन संसार

अट्ठपदेसे मुत्तूण इसो सेसेसु सगपदेसेसु।
तत्तमिव अद्धरणं उव्वत्तपरत्तणं कुणदि।। (1773 भ.आ.)

लोक के मध्य में स्थित गौ के स्तन के आकार आठ प्रदेशों को छोड़कर यह जीव अपने शेष प्रदेशों में तप्त जल के मध्य में स्थित चावलों की तरह उद्वर्तन परावर्तन किया करता है। अर्थात् जैसे आग पर रखे गर्म जल में पडे हुए, चावल ऊपर नीचे हुआ करते हैं उसी प्रकार आठ मध्यप्रदेशों को छोडकर जीव के शेष प्रदेश चल रहते हैं।

लोक (ब्रह्माण्ड) की परिभाषा

दिसंति जत्थ अत्था जीवादीया स भण्णदे लोओ।
तस्स सिहरम्मि सिद्ध अंत-विहीणा विरायंते।। (12 स्वा.का.)

जहाँ पर जीव आदि पदार्थ देखे जाते हैं, उसे लोक कहते हैं। उसके शिखर पर अनन्त सिद्ध परमेष्ठी विराजमान हैं। 'लोक' शब्द 'लुक' धातु से बना है, जिसका अर्थ देखना होता है अतः जितने क्षेत्र में जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल, ये छहों द्रव्य देखे जाते हैं, उसे लोक कहते है। (''**धर्माधर्मादीनि द्रव्याणि यत्र लोक्यन्ते स लोकः**।'' सर्वार्थ., पृ. 176) लोक के मस्तक पर तनुवातवलय में कर्म और नोकर्म से रहित तथा सम्यक्त्व आदि आठ गुणों से सहित सिद्ध परमेष्ठी विराजमान हैं। जो अन्तरहित-अविनाशी है, अथवा जो अन्तरहित अनन्त हैं।

ब्रह्माण्ड एवं प्रतिब्रह्माण्ड

धम्माधम्मागासा गदिरागदि जीव पोग्गलाणं च।
जावत्तावल्लोगो आयासमदो परमणतं।। (5) त्रिलोकसार

जितने आकाश को धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और गति अगति करने वाले जीव एवं पुद्गल द्रव्य तथा शब्द के द्वारा ग्रहित कालद्रव्य अभिव्याप्त करते हैं उतने आकाश को लोक कहते हैं, इसके आगे अलोकाकाश है। अलोकाकाश अनन्त है।

धम्माधम्मा कालो पुग्गलजीवा य संति जावदिये।
आयासे सो लोगो तत्तो परदो अलोगुत्तो।।(20 द्र.सं.)

"Lokakasa is that in which Dharma Adharma, Kala, Pudgala and Jiva exist, that which is beyound (this Lokakasa) is called Alokakasa.

"Loka is that. place in which happiness and misery are seen as results of virtue or vice or Loka might be said to be that place in which things are got or Loka is that place which is perceived by the omnicient. "This is how Akalanka Deva derives the word Loka. Akasa with reference to Loka or Akass similar in extent to Lika is Lokakasa and Akasa beyound Loka is Alokakasa.

In the accompanying Plate, we have a representation of

Lokasasa and Alokakasa. Loka or the universe, according to the jaina idea, consists of three divisions-Urdha Loka or the upper world Madhya Loka or the middle world and Adho Loka or the lower world. The first is the abode of celestial beings, the second of men and of other creatures and the third of the inmates of hell. Surrounding' These Lokas, which are situarted one above the other, are three layers of air, the inner being humid, the dense and the outer rarified. Within the envelope of these layers, there is Lokakasha invisible substance which allows space to other substances and is equal in extent to the Loka. In this Lokakasa, live, Pudagala, Dharma. Adharma and Kala exist.

Beyond this Lokakasa, there is Alokakasa which is eternal. Infinite, formless, activityless and perctepitible only by the omniscient. In Alokasasa, there is only the substance Akasa and not Dharma, Adharma, kala, Pudgala or Jiva.

जहाँ पुण्य-पाप का फल देखा जाता है उसे लोक कहते हैं, अथवा जहाँ पुण्य-पाप कर्मों का फल सुख-दुःख रूप लक्षण में देखा जाता है उसे लोक कहते हैं, अथवा जो देखा जाता है उसे लोक कहते हैं, अथवा जहाँ अर्थ देखा जाता है, उपलब्ध होता है उसे लोक कहते हैं। अप्रतिहत केवलदर्शन के माध्यम से सर्वज्ञ द्वारा जो देखा जाता है उसे लोक कहते हैं। इसी प्रकार अकलङ्कदेव ने लोक की परिभाषा कही है- लोक के आकाश को लोकाकाश कहते हैं। जैसे पृथ्वी पृष्ठ पर जहाँ जल रहता है, उसे जलाशय कहते हैं। उसी प्रकार आकाश के जिस प्रदेश में लोक रहता है उसे लोकाकाश कहते हैं। इस प्रकार लोकाकाश और अलोकाकाश का भेद है। जैन दृष्टिकोण से लोक अर्थात् श्व के तीन भेद है- अधोलोक, मध्यलोक, उर्ध्वलोक। प्रथम लोक में नारकी रहते हैं, द्वितीय लोक में मनुष्य एवं तिर्यञ्च रहते हैं एवं तृतीय लोक में देव लोग रहते हैं। विश्व को घेरे हुए एवं परस्पर एक दूसरे को वेष्टित करते हुए तीन वातवलय हैं। घनोदधिवातवलय को वेष्टित करते हुए घनवातवलय तथा घनवातवलय को तनुवातवलय वेष्टित किये हैं। इस प्रकार तीन वातवलय से वेष्टित जो अदृश्य (अमूर्तिक) आकाश है उसको लोकाकाश कहते हैं, जो कि अन्य द्रव्यों को अवगाहन देता है। इस लोकाकाश में जीव, पुद्गल, धर्म अधर्म, और काल ये

पाँच द्रव्य रहते हैं। इस लोकाकाश के बाहर अलोकाकाश है जो कि शाश्वत, अनन्त है, अमूर्तिक है, अन्य द्रव्य से रहित है, क्रियाहीन है एवं सर्वज्ञ के द्वारा ज्ञात है। अलोकाकाश में केवल आकाश ही है, उसमें धर्म, अधर्म, काल, जीव एवं पुद्गल नहीं है। इस अलोकाकाश की सीमा, प्रत्येक दिशा में अनन्तानन्त है। इस अनन्तानन्त आकाश के बहुमध्यभाग में जो सीमित असंख्यात प्रदेशी लोक है। उसका आकार भी निश्चित, सुव्यस्थित और अपरिवर्तनशील है।

परिणमनशील ब्रह्माण्ड

परिणाम-सहावादो पडिसमय परिणमंति दव्वाणि।
तेसिं परिणामादो लोयस्स वि मुणहे परिणामं।। (117 स्वा.)

परिणमन करना वस्तु का स्वभाव है अतः द्रव्य प्रति-समय परिणमन करते हैं। उनके परिणमन से लोक का भी परिणमन जानो।

जो पर्यायों के द्वारा प्राप्त किये जाते हैं या पर्यायों को प्राप्त होते हैं, उन्हें द्रव्य कहते हैं। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकश और काल इन छहों द्रव्यों में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप से प्रति समय परिणमन होता रहता है। प्रतिसमय छहों द्रव्यों की पूर्व-पूर्व पर्याय नष्ट होती है, उत्तर-उत्तर पर्याय उत्पन्न होती है, और द्रव्यता ध्रुव रहती है। इस तरह भूत भविष्यत् और वर्तमान काल में अनन्त पर्याय रूप से परिणमन करना द्रव्य का स्वभाव है। जो इस तरह परिणमनशील नहीं है, वह कभी सत् हो ही नहीं सकता। अतः नित्य होने पर भी जीव, पुद्गलादि द्रव्य अनेक स्वभाव पर्याय तथा विभाव पर्याय रूप से प्रति समय परिणमन करते रहते हैं। परिणमन करना उनका स्वभाव है। स्वभाव के बिना कोई वस्तु स्थिर रह ही नहीं सकती। उन्हीं परिणामी द्रव्यों के समुदाय को लोक कहते हैं। अतः जब द्रव्य परिणमनशील है तो उनके समुदाय रूप लोक का भी परिणामी होना सिद्ध ही है, अतः द्रव्य की तरह लोक भी परिणामी नित्य जानना चाहिए।

एयद वियम्मि जे अत्थपज्जया वियणपज्जया चादि।
तीदाणागदभूदा तावदियं तं हवदि दव्वं।।(55 गो.जी.)

एक द्रव्य में त्रिकाल सम्बन्धी जितनी अर्थ पर्याय और व्यञ्जन पर्याय है, उतना ही द्रव्य है। अर्थात् त्रिकालवर्ती पर्यायों को छोड़कर द्रव्य कोई चीज नहीं है।

शंकाः- जो नित्य है, वह अनित्य किस प्रकार हो सकता है, नित्यता और अनित्यता में परस्पर में विरोध है।

समाधान-वस्तु अनेक धर्मात्मक होती है, क्योंकि वह सत् है। यदि एक वस्तु में उन अनेक धर्मों को अपेक्षाभेद के बिना यों ही मान लिया जाये तो उनमें विरोध हो सकता है। किन्तु भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से विरोधी दिखायी देने वाले धर्म भी एक स्थान पर बिना किसी विरोध के रह सकते हैं। जैसे, पिता, पुत्र, भ्राता, जमाता आदि लौकिक सम्बन्ध परस्पर में विरोधी प्रतीत होते हैं। किंतु भिन्न-भिन्न सम्बन्धियों की अपेक्षा से यह सभी सम्बन्ध एक ही मनुष्य में पाये जाते हैं। एक ही मनुष्य अपने पिता की अपेक्षा से पुत्र है, अपनी पुत्री की अपेक्षा से पिता है, अपने भाई की अपेक्षा से भ्राता है और अपने श्वसुर की अपेक्षा से जमाता है। इसी प्रकार प्रत्येक द्रव्य, द्रव्य रूप से नित्य है, क्योकि द्रव्य का नाश कभी भी नहीं होता। किंतु प्रति-समय उसमें परिणमन होता रहता है, जो पर्याय एक समय में होती है, वही पर्याय दूसरे समय में नहीं होती, जो पर्याय दूसरे समय में होती है वह तीसरे समय में नहीं होती है, अतःपर्याय की अपेक्षा से अनित्य है। पर्याय दो प्रकार की होती हैं, एक व्यञ्जन पर्याय और दूसरी अर्थ पर्याय। इन दोनों प्रकारों के भी दो-दो भेद होते हैं-स्वभाव और विभाव। जीव की नर,नारक आदि पर्याय विभाव व्यञ्जन पर्याय और अन्य शेष गुणों के विकार को अर्थ पर्याय कहते हैं। तथा जो पर्याय पर सम्बन्ध के निमित्त से होती है उसे विभाव, तथा जो पर सम्बन्ध के निमित्त बिना स्वभाव से ही होती है उसे स्वभाव पर्याय कहते है। हम चर्म चक्षुओं से जो कुछ देखते हैं, वह सब विभाव व्यञ्जन पर्याय है। सारांश यह है कि द्रव्यों के समूह का ही नाम लोक है। द्रव्य नित्य है, अतः लोक भी नित्य है। द्रव्य परिणामी है, अतः लोक भी परिणामी है।

स्थावर और त्रस लोक

एइंदिएहिं भरिदो पञ्च-पयारेहिं सव्वदो लोओ।
तस-णाडीए वि तसा ण बहिरा होंति सव्वत्थ।।(122)

यह लोक पांच प्रकार के एकेन्द्रिय जीवों से सर्वत्र भरा हुआ है किंतु त्रस जीव त्रसनाली में ही होते हैं, उसके बाहर सर्वत्र नहीं होते। पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक ये पाँच प्रकार के एकेन्द्रिय जीव

343 घन राजू प्रमाण सभी लोक में भरे हुए हैं। किंतु त्रस अर्थात् दो इंद्रिय, तेइंदिय, चौंइंदिय, और पञ्चेद्रिय जीव त्रस नाली में ही पाये जाते हैं। उदूखल(कोशकारों ने उदूखल का अर्थ ओखली और जूगुल वृक्ष किया है। यहाँ वृक्ष लेना ठीक प्रतीत होता है, क्योंकि त्रिलोक प्रज्ञप्ति तथा त्रिलोकसार में त्रसनाली की उपमा वृक्ष क सार अर्थात् छाल वगैरह के मध्य में रहने वाली लकडी से दी है) के बीच में छेद करके उसमें रखी हुई बाँस की नली के समान लोक के मध्य में चौकोर त्रसनाली है। उसी में त्रस जीव रहते हैं। (उपपाद और मारणान्तिक समुद्धात के सिवाय त्रस जीव उसके बाहर नहीं रहते हैं।)

उववादमारणंतिय परिणदतसमुज्झिऊण सेस तसा।
तसणालिबाहिरम्हि य णत्थि त्ति जिणेहिं णिदिट्ठं।।(192) गो. जीव.

त्रसनाली से बाहर का कोई एकेन्द्रिय जीव त्रस नाम कर्म का बंध करके मृत्यु के पश्चात् त्रसनाली में जन्म लेने के लिए गमन करता है, तब उसके त्रसनाम कर्म का उदय होने के कारण उपपाद की अपेक्षा से त्रसजीव त्रसनाली के बाहर पाया जाता है। तथा जब कोइ त्रसजीव त्रसनाली के बाहर एकेन्द्रिय पर्याय में जन्म लेने से पहले मारणान्तिक समुद्धात करता है, तब त्रसपर्याय में होते हुए भी उसके आत्मा के प्रदेश त्रसनाली के बाहर पाये जाते हैं। 'ण बाहिरा होंति सव्वत्थ' के स्थान पर 'ण बादरा होंति सव्वत्थ' ऐसा भी पाठ है इसका अर्थ होता है कि बादर जीव अर्थात् स्थूल पृथ्वीकायिक वगैरह एकेन्द्रिय जीव तथा त्रसजीव सर्व लोक में नहीं रहते हैं। क्योंकि जीवकाण्ड में लिखा है- 'स्थूल जीव आधार से ही रहते है'(आधारो थूलाओ)

शंकाः- क्या त्रसनाली में सर्वत्र त्रस जीव रहते हैं ?

समाधान :- त्रसनाली में त्रसजीव रहते हैं, यह सामान्य कथन है। त्रिलोकप्रज्ञाप्ति में इसका विशेष कथन किया है।

लोय बहुमज्झदेसे तरुम्मिसारं व रज्जूपदरजुदा।
तेस्स रज्जूस्सेहा किंचूण होदि तसणाली।।(6) त्रिलोकप्रज्ञप्ति

''वृक्ष में उसके सारकी तरह, लोक के ठीक मध्य में एक राजू लम्बी, एक राजू चौडी और कुछ कम तेरह राजूँ ऊँची त्रसनाली है।''

शंका :- त्रसनाली को कुछ कम तेरह राजू ऊँची कैसे कहा है ?

समाधान :- सातवी महातमः प्रभा नाम की पृथ्वी आठ हजार योजन मोटी है। (देखो त्रिलोकसार गाथा 174 की टीका) उसके ठीक मध्य में नारकियों के श्रेणीबद्ध बिल बने हुए हैं। उन बिलोंकी मोटाई 4/3 योजन है। इस मोटाई को समच्छेद करके पृथिवी की मोटाई में से घटने से 2400/3-3/ॅ=23996/3 योजन शेष बचता है। इसका आधा 11998/3 योजन होता है। भाग देने पर 3999 1/3 योजन आते हैं। इतने योजन के 31994666 2/3 धनुष होते हैं। यह तो नीचे की गणना हुई। अब ऊपर की लीजिए। सर्वार्थसिद्धि विमान से ऊपर 12 योजन पर ईषत्प्राग्भार नाम की आठवी पृथ्वी है। जो आठ योजन मोटी है। इसके नीचे नित्य निगोदिया के एक राजू और इन सब को घटाने पर त्रसनाली कुछ कम तेरह राजू होती है।

तिहुवणमुड्ढारुढा ईसिपभारा धरट्ठमी रूंदा।
दिग्धा इगिसगरज्जू अडजोव णपरिमदवाहल्ला।।(556)

तीनों लोकों के मस्तक पर आरूढ ईषत्प्राग्भार नाम की आठवी पृथ्वी है। उसकी चौडाई एक राजू, लम्बाई सात राजू और मोटाई आठ योजन है। 12 योजन के 96000 धनुष होते हैं और आठवी पृथ्वी के आठ योजन के 64000 धनुष होते हैं।

कोसाणं दुगमेक्कं च देसूणेक्कं च लोय सिहरम्मि।
ऊणधणूणपमाणं पणुवीसज्झाहिय चारियसं।।(126 त्रि.सा.)

लोक के शिखर पर तीनों वातवलयों का बाहुल्य दो कोस, एक कोस, और कुछ कम एक कोस है। कुछ कम का प्रमाण 425 धनुष है। अतः तीनों वातवलयों का बाहुल्य 4000+2000+1575=7575 धनुष होता है। क्योंकि एक कोस के 2000 धनुष होते हैं। उसके ऊपर तीनों वातवलयों की मोटाई 75/75 धनुष है। इन सब धनुषों का जोड 3216224 12/3 धनुष होता है।

निगोदिया जीव

त्रसनाली में नरक के नीचे एक राजू प्रमाण में नित्य निगोदिया जीव होते हैं। नित्य निगोदिया उसे कहते हैं जो भाव की प्रचुर मलिनता के कारण अभी तक

द्वीन्द्रियादि त्रस पर्याय को प्राप्त नहीं किया है। भविष्य में वे भाव की निर्मलता से द्वीन्द्रियादि त्रस पर्यायों को प्राप्त करके क्रम विकास करते हुए मानव से महामानव एवं भगवान् भी हो सकते हैं। निगोदिया जीव अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं। एक ही निगोदिया शरीर में अनंत निगोदिया जीव निवास करते हैं। वे एक श्वास में 18 बार जन्म-मरण करते हैं। उनका जन्म-मरण, श्वास, भोजन-शरीरादि समान होने से उन्हें साधारण जीव कहते हैं। वैसे निगोदिया जीव त्रसनाली में अन्यत्र भी रहते हैं।

3) काल संसार

उवसप्पिणि-अवसप्पिणि-पढम-समयादि-चरम-समयंतं।
जीवो कमेण जम्मदि मरदि य सव्वेसु कालेसु।।(69)

उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के प्रथम समय से लेकर अन्तिम समय पर्यन्त सब समयों में यह जीव क्रमशः जन्म लेता और मरता है। कोई जीव उत्सर्पिणी काल के प्रथम समय में उत्पन्न हुआ और आयु पूर्ण करके मर गया फिर भ्रमण करके दूसरी उत्सर्पिणी के दूसरे समय में उत्पन्न हुआ और आयु पूर्ण करके मर गया। फिर भ्रमण करके तीसरी उत्सर्पिणी के तीसरे समय में उत्पन्न हुआ और उसी तरह मर गया। यही क्रम अवसर्पिणी काल के सम्बन्ध में भी समझना चाहिये। इस क्रम से उत्सर्पिणी तथा अवसिर्पणी के बीस कोडा-कोडी सागर के जितने समय हैं, उनमें उत्पन्न हुआ, तथा इसी क्रम से मरण को प्राप्त हुआ। अर्थात् उत्सर्पिणी के प्रथम समय में मरा, फिर दूसरी उत्सर्पिणी के दूसरे समय में मरा। इसे कालपरिवर्तन कहते हैं। कहा भी है- ''काल संसार में भ्रमण करता हुआ यह जीव उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के सब समयों में अनेक बार जन्मा और मरा।''(श्वेताम्बर साहित्य में कालपरावर्तन के भी दो भेद हैं। जितने समय में एक जीव अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल के सब समयों में क्रम या बिना क्रम के मरण कर चुकता है, उतने काल को बादर कालपरावर्तन कहते हैं। सूक्ष्म काल परावर्तन दिगम्बर काल परिवर्तन के जैसा ही है।)

काल परिवर्तन

तक्कालतदाकालसमएसु जीवो अणंतसो चेव।
जादो मदो य सव्वेसु इमो तीदम्मि कालम्मि।। (1771 भ.आ.)

यह जीव अतीत काल में उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के सब समयों में अनन्त बार उत्पन्न हुआ और अनन्त बार मरा। उत्सर्पिणी काल के प्रथम समय में उत्पन्न हुआ कोई जीव अपनी आयु के समाप्त होने पर मरा। वही पुनः जीव दूसरी उत्सर्पिणी के दूसरे समय में उत्पन्न हुआ और अपनी आयु के समाप्त होने पर मरा। वह जीव पुनः तीसरी उत्सर्पिणी के तीसरे समय में उत्पन्न हुआ। इस क्रम से उसने उत्सर्पिणी समाप्त की और इसी क्रम से अवसिर्पणी समाप्त की। अर्थात् उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के सब समयों में क्रम से जन्मा। तथा इसी प्रकार उत्सर्पिणी और अवसिर्पणी के सब समयों में मरा भी। इसको काल परिवर्तन कहते है। कहा भी है-

उवसप्पिणिअवसप्पिणिसमयावलिगासु णिरवसेसासु।
जादो मदो य बहुसो भमणेण दु कालसंसारे।। बा. अणु. 27

काल-संसार में भ्रमण करने से यह जीव उत्सर्पिणी और अवसिर्पणी काल के सब समयों में अनेक बार जन्मा और अनेक बार मरा।

4) भाव संसार- (वैश्विक परतंत्रता या अनन्त परिवर्तन के मूल कारण)

परिणमदि सण्णि-जीवो विवह-कसाएहिं ठिदि-णिमित्तेहिं।
अणुभाग-णिमित्तेहि य वट्टंतो भाव-संसार।।71 का.अ.

सैनी जीव जघन्य आदि उत्कृष्ट स्थितिबन्ध के कारण तथा अनुभागबन्ध के कारण अनेक प्रकार की कषायों से, तथा 'च' शब्द से श्रेणी के असंख्यातवें भाग प्रमाण योग स्थानों से वर्धमान भाव संसार में परिणमन करता है।

योगस्थान, अनुभागबन्द्याध्यवसायस्थान, कषायाध्यवसायस्थान और स्थितिज्ञान, इन चार के निमित्त से भाव परिवर्तन होता है। प्रकृतिबन्ध और प्रदेश बन्ध के कारण आत्मा के प्रदेशपरिस्पन्दरूप योग के तारतम्यरूप स्थानों को योगस्थान कहते हैं। अनुभाग बन्ध के कारण कषाय के तारतम्यरूपी स्थानों को अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान कहते हैं। स्थितिबन्ध के कारण कषाय के तारतम्य स्थानों को कषायस्थान या स्थितिबन्धाध्यवसायस्थान कहते हैं। बँधने वाले कर्म की स्थिति के भेदों को स्थितिस्थान कहते हैं। योगस्थान श्रेणी के असंख्यातवे भाग प्रमाण है। अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान असंख्यात लोक प्रमाण है, तथा कषायाध्यवसायस्थान भी असंख्यातलोक, प्रमाण हैं।

मिथ्यादृष्टि, पंञ्चेन्द्रिय, सैनी, पर्याप्त कोई जीव ज्ञानावरणकर्म की अन्तः कोडाकोडी सागर प्रमाण जघन्यस्थिति को बाँधता है। उस जीव के स्थिति के योग्य जघन्य कषायस्थान, जघन्य अनुभागस्थन और जघन्य ही योगस्थान होता है। फिर उसी स्थिति, उसी कषाय स्थान और उसी अनुभाग. स्थानों को प्राप्त जीव के दूसरा योगस्थान होता है। जब सब योग स्थानों को समाप्त कर लेता है तब उसी स्थिति और उसी कषाय स्थान को प्राप्त जीव के दूसरा अनुभाग स्थान होता है। उसके योगस्थान भी पूर्वोक्त प्रकार ही जानना चाहिये। इस प्रकार प्रत्येक अनुभाग स्थान के साथ सब योग्यस्थानों को समाप्त करता है। अनुभाग स्थानों के समाप्त होने पर, उसी स्थिति को प्राप्त जीव के दूसरा कषाय. स्थान होता है। इस कषाय स्थान के अनुभाग स्थान तथा योगस्थान पूर्ववत् जानने चाहिये। इस प्रकार सब कषाय स्थानों की समाप्ति तक अनुभाग स्थान और योगस्थानों की समाप्ति का क्रम जानना चाहिये। कषाय स्थानों के भी समाप्त होने पर वही जीव उसी कर्म की एक समय अधिक अन्तःकोडाकोडीसागर प्रमाण स्थिति बाँधता है। उसके भी कषाय स्थान, अनुभागस्थान तथा योगस्थान पूर्ववत् जानना चाहिए। इस प्रकार एक-एक समय बढाते-बढाते समय उत्कृष्ट स्थिति तीस कोडाकोडी सागर पर्यन्त प्रत्येक स्थिति के कषाय स्थान, अनुभाग स्थान और योगस्थानों का क्रम जानना चहिए। इसी प्रकार मूल और उत्तर प्रकृतियों में समझना चाहिए। अर्थात् प्रत्येक उत्तर प्रकृति की जघन्य स्थिति से लेकर उत्कृष्ट स्थिति पर्यन्त प्रत्येक स्थिति के साथ पूर्वोक्त सब कषाय स्थानों, अनुभाग स्थानों और योगस्थानों को पहले की तरह लगा लेना चाहिये। इस प्रकार सब कर्मों की स्थितियों को भोगने को भावपरिवर्तन कहते हैं। इन परिवर्तनों को पूर्ण करने में जितना काल लगता है, उतना काल भी परावर्तन के नाम से कहा जाता है। जिस प्रकार विद्युत चलित यन्त्र यथा पंखा, गाडी, कम्प्यूटर आदि विद्युत से ऊर्जस्वित (शक्ति प्राप्त करके) गति करने से ऊर्जावान होकर (आवेषित होकर) परिवर्तन करता है। इसीलिए ही कहा गया है ''जो पिण्डे सो ब्रह्माण्डे'' ''जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि'' ''यथा मति तथा गति'' "As you think, so you become" ''जैसा विचार वैसा आचार'' जई मई तई गई होई'' '' यथा भाव तथा भव''। इस भाव, परिवर्तन अर्थात् वैभाविक भाव दूषित परिणाम के कारण ही जीव जो ज्ञानावरण आदि आठ कर्म तथा औदारिक आदि नो

कर्म को बाँधता है उसके फलस्वरूप जीव को (1) द्रव्य संसार (2) क्षेत्र संसार (3) काल संसार (4) भव संसार में परिभ्रमण करना पडता है। यह ही यथार्थ से जीवों की वैश्विक सार्वभौम परतंत्रता है।

भाव-संसार का विस्तार

लोगागासपएसा असंखगुणिदा हवंति जावदिया।

तवादियाणि हु अज्झवसाणाणि इमस्स जीवस्स।। (1774 भ. आ.)

लोकाकाश के प्रदेशों को असंख्यात से गुणा करने पर जितनी राशि होती है उतने ही इस जीव के अध्यवसाय स्थान होते हैं। इन असंख्यात लोक प्रमाण अध्यवसाय नामक भावों में जीव के परावर्तन को भाव संसार कहते हैं।

1) ज्ञानावरणी की परतंत्रता

वत्थस्स सेदभावो जह णासेदि मल विमेलणाच्छण्णो।

अप्पाणं मलोच्छण्णं तह णाणं होदि णादव्वं।।(65 समयसार)

मैल के विशेष सम्बध से दबकर वस्त्र का श्वेतपना नष्ट हो जाता है वैसे ही जीव का मोक्ष का हेतु भूत ज्ञान गुण भी अज्ञान रूपी मल से (ज्ञानावरण कर्म से) दबकर नष्ट हो जाता है। जैसे-दर्पण के ऊपर धूली लगने से दर्पण की स्वच्छता छिप जाती है या सूर्य सम्मुख बादल आने पर सूर्य की रश्मि छिप जाती है, भगवान् के सामने वस्त्र रहने पर भगवान् का रूप ढक जाता है उसी प्रकार ज्ञानावरण कर्म जीव के ज्ञान गुण को ढक देता है।

2) दर्शनावरणी की परतंत्रता

सामान्य सत्ता अवलोकन अन्तः चेतना रूपी प्रकाश को आवरण करने वाला दर्शनावरणीय कर्म हैं। जैसे द्वारपाल, राजा,मंत्री आदि मालिक को देखने नहीं देता है। दर्शन नहीं होने देता है।

3) वेदनीय की परतंत्रता

अक्खाणं अणुभवणं वेयणियं सुहसरूवयं सादं।

दुक्खसरूवमसादं तं वेदयदीदि वेदणियं।। (14 गो. कर्मकाण्ड)

इन्दियों को अपने-अपने रूपादि विषय का अनुभव करना वेदनीय है। उसमे

दुःख रूप अनुभव करना साता वेदनीय है। उस सुख-दुःख का अनुभव जो करावे वो वेदनीय कर्म है। जो कर्म वेदन किया जाता है उसे वेदनीय कर्म कहते हैं। इस अपेक्षा सभी कर्म वेदन किए जाते हैं इसलिए सभी कर्म वेदनीय होने पर भी विशेष संसारी जीव सुख-दुःख का अधिक रूप से वेदन करता है इसलिए सुख-दुःख को देने वाले कर्म को 'वेदनीय कर्म' कहते हैं। दूसरी बात यह है कि, वेदनीय कर्म, मोहनीय कर्म के भेद जो राग-द्वेष हैं उनके उदय के बल से ही घातिया कर्मों की तरह जीवों का घात करता है। अर्थात् इन्द्रियों के रूपादि विषयों में से किसी में रति (प्रीति) और किसी में अरति (द्वेष) का निमित्त पाकर सुख और दुःख स्वरूप साता और असाता का अनुभव करके जीव को अपने ज्ञानादि गुणों में उपयोग नहीं करने देता, पर स्वरूप में लीन करता है।

4) मोहनीय कर्म की परतंत्रता

जो जीव को मोहित करे वह 'मोहनीय कर्म' है। इस तरह मोहनीय कर्म सामान्य से एक होते हुए भी विशेष अवस्था में इसके दो भेद हैं। जो दर्शन गुण को मोहित करके विपरीत करे वह दर्शन मोहनीय है। जो चारित्र गुण को मोहित करके विपरीत करे वह चारित्र मोहनीय है।

A) दर्शन मोहनीय

सम्मत पडिणिबद्धं मिच्छतं जिणवरेहिं परिकहिदं।
तस्सोदयेण जीवो मिच्छादिट्ठित्तिणादव्वो।।(68 समयसार)

आत्मा के सम्यक्त्व गुण को रोकने वाला मिथ्यात्व कर्म है जिसके उदय से यह जीव मिथ्यादृष्टि हो रहा है।

मिच्छतं वेदंतो, जीवो विवरीयदंसणो होदि।
ण य धम्मं रोचेदि हु, महुरं खु संजहा जरिदो।। (17)

उदय में आये मिथ्यात्व का वेदन अर्थात् अनुभव करने वाला जीव विपरीत दर्शन अर्थात् अतत्त्व श्रद्धा से युक्त होता है। वह न केवल अतत्त्व की ही श्रद्धा करता है, अपितु अनेकान्तात्मक धर्म अर्थात् वस्तु स्वभाव को अथवा मोक्ष के कारणभूत रत्नत्रययात्मक धर्म को भी पसंद नहीं करता। इसमें दृष्टान्त देते हैं जैसे-पित्त

ज्वर से ग्रस्त व्यक्ति मीठे दूध आदि रस को पसंद नहीं करता। उसी तरह मिथ्या दृष्टि को धर्म नहीं रुचता।

सुधर्म v/s कुधर्म

(सुधर्म है वस्तु स्वरूप, सुखदायक, दुःखनाशक अन्यथा कुधर्म।)

(चाल :- 1. क्या मिलिए....2. आत्मशक्ति....)

धर्म और कुछ नहीं है, धर्म तो वस्तु स्वरूप है।
जीव है चैतन्यवस्तु अतएव, चैतन्य ही जीव का धर्म है।। (1)

ज्ञान दर्शन है चैतन्य स्वरूप, अनन्त ज्ञान व अनन्त दर्शन।
इसके अनुविधायी अनन्त सुख, तथाहि अनन्तवीर्यादि गुण।। (2)

यो धरति उत्तम सुखे सो धर्म, अनन्त आत्मोत्थ शाश्वत सुख।
इन्द्रियजनित सुख दुःखजनक, अतः इन्द्रियजनित सुख अधर्म।। (3)

सर्व दुःखनाशक होता सो धर्म, चौरासी लक्ष योनियों के दुःखहर।
जन्म मरण आधि-व्याधि हर, तन मन आत्मा के दुःख हर।। (4)

जो धारण करे सो धर्म है, स्व अनन्त गुण गण धारण से।
''गुण पर्ययवत् द्रव्यं'' होता धर्म, स्व गुण पर्याय ही होता स्वधर्म।। (5)

सत्य समता शुचिता सहिष्णुता, क्षमादि दशधा होता धर्म।
आत्म विश्वास ज्ञान चारित्रमय, होता है यथार्थ से धर्म।। (6)

इस हेतु ही पालनीय धर्म है, गृही से लेकर मुनि तक को।
अन्यथा वे सभी अयथार्थ है बीज विहीन कृषि सम है।। (7)

केवल पन्थ मत रूढ़ि परम्परा, कट्टर धार्मिक क्रियाकाण्डादि।
ख्याति पूजा लाभ प्रसिद्धि वर्चस्वादि, स्व-पर-विश्व अकल्याणकारी।। (8)

यह है सुधर्म-कुधर्म का स्वरूप, रागी द्वेषी मोही स्वार्थी से अज्ञात।
आध्यात्मिक निस्पृही ज्ञानी गुरु से ज्ञेय, स्व स्वरूप प्राप्ति 'कनक' ध्येय।।(9)

ग.पु. कॉ. दि. 25.5.2020, मध्याह्न 12.02

सुकृतकारी का निषेध, उसके साथ शत्रुता

(मोक्ष हेतुक सुकृत व संसार कारक दुष्कृत)

(गुणगुणी प्रशंसा व अनुमोदना श्रेय)

(सुकृतकारी की प्रशंसा स्वपर हितकर)

चालः- 1. आत्मशक्ति ....2. क्या मिलिए....) आचार्य कनकनन्दी

वे ही शत्रुता नहीं करते हैं जो धन जन आदि का नाश करे।
वे भी शत्रुता करते हैं जो सुकृतकारी का निषेध करे।।
धन जन नाश में यथा होता अशुभ कर्म तथाहि सुकृत निषेध।
धन जन नाशक यथा होता शत्रु तथाहि सुकृत निषेधक।। (1)

धन जन नाश से भी अधिक अशुभ होता है सुकृत निषेध से।
सुकृत नाश से संसार भ्रमण तथा न धन जन नाश से।।
सुकृत से ही होता आत्म विकास न तथा केवल धन जन से।
सुकृत से ही होता सातिशय पुण्य जिससे मिले स्वर्ग-मोक्ष तक ।। (2)

चतुर्थकाल में युद्ध के अवसर पर (अनन्तर) हजारों राजा राणी साधु बने।
आत्मसाधना के बल पर स्वर्ग से लेकर मोक्ष प्राप्त किये।।
किन्तु सुकृत से रहित जीव अनादि काल से दुःख सह रहे।
धन जन मान सम्मान सहित होने पर भी सर्वज्ञ-मोक्ष को न प्राप्त किये।।(3)

संसार वर्द्धक काम यथा विवाह व्यापार व भोगोपभोग हेतु।
करे कराते व अनुमत करते किन्तु न करते मोक्ष प्राप्त हेतु।।
जो यति धर्म के उपदेश बिना केवल करते हैं गृहस्थ धर्म कथन।
वे गुरु भी होते प्रायश्चित के भागी, गृहस्थ धर्म में भी पापबन्धन/(नहीं निर्वाण)।। (4)

जो यतिधर्म पालने में असमर्थ उन्हें देते श्रावक धर्म उपदेश।
सम्पूर्ण विरक्ति से ही मिले मोक्ष, श्रावक धर्म तो पापमिश्रित।।
श्रावक व्रत तक यदि है पापमिश्रित गृहस्थ कर्म तो पूर्णतः पापाश्रित।
विवाह व्यापार कृषि भोगोपभोग आदि सभी ही पापमय।। (5)

राग द्वेष मोह काम स्वार्थ से आक्रान्त जीव स्वयं न करते सुकृत।
सुकृत करने वालों से भी चाहते स्व सम्मान करें पाप में प्रवृत्त।।
यथा जो होते फैशनी-व्यसनी वे चाहते अन्य भी बने मेरे समान।
अन्धेरा यथा प्रकाश न करे, जन्मान्ध यथा न देखे प्रकाश।। (6)

विश्व इतिहास साक्षी हैं पापीओं के अनुमोदक/(अनुयायी) होते अधिक।
सुकृतकारी महापुरुषों के निन्दक से ले वधकर्त्ता होते अधिक।।
अधिकतर माता पिता भाई बन्धु विवाहादिक करने में होते सहयोगी।
किन्तु ज्ञान वैराग्य व मुनिदीक्षा हेतु न बनते अनुमोदक-सहयोगी।। (7)

इस हेतु चारुदत्त की जीवनी ज्ञेय,धार्मिक चारुदत को वेश्यागामी बनायी माता।
गौतम बुद्ध, जम्बुकुमार,सुकुमाल, सुकौशल, श्रेणिक आदि की जीवन गाथा।।
लौकिक पढ़ाई नौकरी कमाई हेतु यथा करते हैं सहयोग।
धार्मिक शिक्षा व दयादान आदि हेतु भी नहीं करते हैं सहयोग।। (8)

इसलिए कहा है आगम में ''बन्धु बंधन मूल'' न मोक्ष के हेतु।
किन्तु आध्यात्मिक गुरु को कहा गया है ''तरणतारण'' विश्व बन्धु।।
अनादिकर्म के कारण मोही रागी द्वेषी कामी स्वार्थी, होते अधिकतर मानव।
इसलिए वे न सुकृत करते किन्तु सुकृत कारियों का भी करतेविरोध।। (9)

शकुनी मंथरा आदि के समान जो करते कुकृत्य नवकोटि से।
वे होते दुष्ट दुर्जन उन की संगति से मानव करते अयोग्य काम।।
गुणगुणी प्रशंसा व अनुमोदना से गुणवृद्धि व दोष होते दूर।
यह है आगम अनुभव व विज्ञान सम्मत अतः 'कनक' करे सुकृत अनुमोदन/(श्रेय)।। (10)

ग.पु. कॉ. 23.5.2020 रात्रि 12.16 व प्रातः

जो मुनि होना चाहता है पहले ही बंधु वर्ग से (सगे-संबधियों से) पूछता है। गुरुजनों (बड़ों) से तथा स्त्री और पुत्रों से अपने को छुड़ाता है, ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार तथा वीर्याचार को अंगीकार करता है। वह इस प्रकार है-

बंधु वर्ग से इस प्रकार कहता है- अहो! इस पुरुष के शरीर के बंधु वर्ग से प्रवर्तमान आत्माओं, इस पुरुष का मेरा आत्मा किंचित मात्र भी तुम्हारा नहीं है, इस प्रकार तुम निश्चय से जानो। इसलिए मैं तुमसे विदा लेता हूँ। जिसे ज्ञानज्योति प्रगट हुई है ऐसा यह मेरा आत्मा आज अपने आत्मारूपी अपने अनादिबंधु के पास जा रहा है।

अहो! इस पुरुष के शरीर के जनक (पिता) के आत्मा! अहो इस पुरुष के शरीर की जननी माता के आत्मा! इस पुरुष का मेरा आत्मा तुम्हारे द्वारा जनित (उत्पन्न) नही है ऐसा तुम निश्चय से जानो। इसलिये तुम इस आत्मा को छोड़ो। जिसे ज्ञानज्योति प्रगट हुई है, ऐसा यह मेरा आत्मा आज आत्मरूपी अपने अनादि जनक के पास जा रहा है।

अहो! इस पुरुष के शरीर की मणि (स्त्री) के आत्मा! तू इस पुरुष के मेरे आत्मा को रमण नहीं कराता ऐसा तू निश्चय से जान। इसलिये तू इस आत्मा को छोड़। जिसे ज्ञानज्योति प्रगट हुई है, ऐसा यह मेरा आत्मा आज अपनी स्वानुभूतिरूप अनादि-रमणी के पास जा रहा है।

अहो! इस पुरुष के मेरे शरीर के पुत्र के आत्मा! तू इस पुरुष के मेरे आत्मा का जन्य (उत्पन्न किया गया-पुत्र) नहीं है, ऐसा तू निश्चय से जान। इसलिये तू इस आत्मा को छोड जिसे ज्ञानज्योति प्रगट हुई है ऐसा यह मेरा आत्मा आज आत्मारूपी अपने अनादिजन्य के पास जा रहा है। इस प्रकार बड़ों से, स्त्री से और पुत्र से अपने को छुड़ाता है।

उसी प्रकार-अहो काल, विनय, उपधान, बहुमान, अनिह्नव, अर्थ, व्यंजन और तदुभयसंपन्न ज्ञानाचार! मैं यह जानता हूँ कि तू निश्चय से शुद्धात्मा का नहीं है, तथापि मैं तुझे तभी तक अंगीकार करता हूँ जब तक कि तेरे प्रसाद से शुद्धात्मा को उपलब्ध कर लूँ। अहो निःशंकितत्व, निःकांक्षीत्व, निर्विचिकित्सत्व, निर्मूढदृष्टित्व, उपवृंहण, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावनास्वरूप दर्शनाचार! मैं यह जानता हूँ कि तू निश्चय से शुद्धात्मा का नहीं है, तथापि मैं तुझे तभी तक अंगीकार करता हूँ जब तक कि तेरे प्रसाद से शुद्धात्मा को उपलब्ध कर लूँ। अहो मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति के कारणभूत, पंचमहाव्रत सहित काय-वचन-मनगुप्ति और ईर्या, भाषा एषणा-

आदाननिक्षेपण-प्रतिष्ठापन समितिस्वरूप चारित्राचार! मैं यह जानता हूँ कि तू निश्चय से शुद्धात्म का नहीं है, तथापि तुझे तब तक अंगीकार करता हूँ जब तक कि तेरे प्रसाद से शुद्धात्मा को उपलब्ध कर लूँ। अहो अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, परित्याग, विवक्तशय्यासन, कायक्लेश, प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग स्वरूप तपाचार! मैं यह जानता हूँ कि निश्चय से तू शुद्धात्मा का नहीं है तथापि तुझे तब तक अंगीकार करता हूँ जब तक तेरे प्रसाद से शुद्धात्मा को उपलब्ध कर लूँ। अहो समस्त इतर आचारों में प्रवृत्ति कराने वाली स्वशक्ति को नहीं छिपाने स्वरूप वीर्याचार! मैं यह जानता हूँ कि तू निश्चय से शुद्धात्मा का नहीं है, तथापि तुझे तब तक अंगीकार करता हूँ जब तक कि तेरे प्रसाद से शुद्धात्मा को उपलब्ध कर लूँ। इस प्रकार ज्ञानाचार,दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार तथा वीर्याचार को अंगीकार करता है।

समीक्षा-योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को प्राप्त करके जीव जब सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है तब यह भान हो जाता है कि मैं आनंदज्ञानघन स्वरूप पिण्ड हूँ। यह जानता हुआ भी जब तीव्र चारित्र मोहनीय कर्म का उदय रहता है तब चेतन परिग्रह स्वरूप बंधुवर्ग, अचेतन परिग्रह स्वरूप बाह्य धन-संपत्ति का ममत्व त्याग नहीं कर पाता है। जब अंतरंग में तीव्र मोहनीय कर्म शिथिल होता है तब बंधु-वर्गादि सचेतन परिग्रह एवं अचेतन परिग्रह को त्याग करके शाश्वतिक यथार्थरूप रत्नत्रयात्मक बंधु वर्ग को स्वीकार करता है, क्योंकि मुमुक्षु को यह पूर्ण ज्ञान-विश्वास हो जाता है कि मेरा शाश्वतिक आत्मा को छोड़कर अन्य सब कर्मजनित संबंध है, बंधन है। यह संबंध मेरे लिए दुःख का कारण है और इन संबंधों को त्याग करना ही मेरे लिए सुख का कारण है।

आचार्य कुन्दुकुन्द देव ने कहा भी है-

मादा-पिदा सहोदर पुत्त कलत्तादिबंधुसंदोहो।
जीवस्स ण संबंधो णिय कज्जवसेण वट्टंति।। (21) वा. अणु.

माता, पिता, सगा, भाई, पुत्र, स्त्री आदि और बंधुओं का समूह इनसे जीव का संबंध नहीं है। ये सब अपने कार्यवश (अपने स्वार्थवश) वर्तते हैं-प्रवृत्ति करते हैं।

अण्णं इमं सरीरादिगं पि जं होज्जँ बाहिरं दव्वं।
णाणं दंसणमादा एवं चिंतेहि अण्णत्तं।। (23)

ये शरीर आदि भी आत्मा से अन्य हैं, क्योंकि ये बाह्य द्रव्य हैं। आत्म ज्ञान दर्शन स्वरूप है। इस प्रकार अन्यत्व भावना का चिन्तन करो।

मम पुत्तं मम भाज्जा, मम धण धण्णोत्ति तिव्व कंखाए।
चइदूण धम्मबुद्धिं, पच्छा परिपडदि दीह संसारे।। (31)

(यह) मेरा पुत्र है, (यह) मेरी भार्या है, (यह) मेरा धन-धान्य है, ऐसी तीव्र आकांक्षा से धर्म-बुद्धि को छोड़कर बाद में दीर्घ संसार में गिरता है।

एको मे सासदो अप्पा, णाणदंसणलक्खणो।
सेसा में बाहिरा भावा, सव्वे संजोगलक्खणा।। (102) नियमसार

मेरा आत्मा एकाकी है, शाश्वत है, ज्ञान और दर्शन स्वरूप है। शेष, संयोग से उत्पन्न होने रूप लक्षण वाले, सभी भाव-पदार्थ मेरे से बाह्य हैं।

जं किंचि मे दुच्चरित्तं, सव्व तिविहेण वोसरे।
सामाइयं तु तिविहं, करेमि सव्वं णिरायारं।। (103)

जो किंचित् भी मेरा दुश्चारित्र है उस सभी को मैं, मन, वचन और काय से छोड़ता हूँ और त्रिविध सामायिक चारित्र को सभी को निराकार करता हूँ।

सम्मं मे सव्वभूदेसु, वेरं मज्झं ण केणवि।
आसाए वोसरित्ता णं, समहि पडिवज्जए।। (104)

मेरा सभी जीवों में समभाव है, मेरा किसी के साथ वैरभाव नहीं है, निश्चित रूप से मैं आशा को छोड़कर समाधि को प्राप्त करता हूँ।

बंधु-वर्ग से दीक्षा लेने के लिए इसलिये पूछा जाता है, क्षमा-याचना की जाती है कि क्षमा-याचना करने से भाव में निर्मलता आती है, वैरत्व दूर होता है, कर्म नष्ट होते हैं। पूछकर दीक्षा लेने से लौकिकाचार का पालन होता है, नम्रता प्रगट होती है, पारिवारिक उत्तरदायित्व, अनुशासन, शालीनता नियम का पालन होता है। दूसरा एक मुख्य कारण यह है कि मनुष्य एक अनुकरणप्रिय एवं परिणमनशील तथा गुणग्राही जीव है। दूसरों के ज्ञान, वैराग्य से वह प्रभावित भी होता है इसलिये मुमुक्षु द्वारा पूछने

पर उनको भी ज्ञान-वैराग्य हो सकता है, वे भी आध्यात्मिक क्षेत्र में आगे बढ़ सकते है, सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सकते है, श्रावकव्रत एवं मुनिव्रत को धारण कर सकते हैं। ऐसे कई उदाहरण पुराणों में भरे पड़े हैं। जैसे-जम्बुकुमार के वैराग्य से प्रभावित होकर केवल उनकी स्त्रियों ने, माता ने ही नहीं 500 चोरों ने भी दीक्षा ले ली। इस प्रकार पुराण में कई प्रकरण मिलते हैं। जब एक राजा दीक्षा लेते थे तब साथ में कई राजकुमार, कई छोटे राजा, रानियाँ भी दीक्षा लेती थी, इसलिये बंधु-वर्ग से क्षमा याचनापूर्वक दीक्षा लेने के लिए दीक्षार्थी पूछता है। दीक्षार्थी निश्चयनय से यह जानता है कि मेरा आत्मा तो अनादिअनिधन है। यह किसी से न उत्पन्न हुआ है और न मेरे कोई भाई-बंधु हैं, इसलिये जब क्षमा-याचनापूर्वक दीक्षा लेने के लिए भाई-बंधु से पूछता है कि आप लौकिक दृष्टि से मेरे भाई-बंधु वर्ग हो पर आध्यात्मिक दृष्टि से तुम्हारा मेरा कोई संबंध नहीं है। जब वे खुशी-खुशी से अनुमति देते हैं और अनुगामी बनते हैं तब वह अनुमति लेकर दीक्षा ग्रहण करता है। यदि अनेक बंधुवर्ग मिथ्यादृष्टि हो, क्रूर प्रकृति के हो और अनुमति न देते हो तब अनुमति लेकर ही दीक्षा लेने की आवश्यकता नहीं है ऐसा वर्णन पुराणों में, भगवती आराधना में पाया जाता है, क्योंकि धर्म प्रत्येक जीव का स्वभाव है, मौलिक अधिकार है, मौलिक कर्त्तव्य भी है। प्रत्येक जीव स्वतंत्रतापूर्वक धर्म पालन कर सकता है, स्वतंत्रता उसका धर्म है और स्वतंत्रता उसका फल है। यदि धर्म पालन परतंत्रतापूर्वक होगा तब प्रायः विश्व में अधिकांश व्यक्ति धर्म का पालन कर ही नहीं सकते हैं क्योंकि अधिकांश जीव मोही-रागी-द्वेषी होते हैं। मोह के कारण वे दूसरों को स्वतंत्रतापूर्वक धर्म पालन करने की अनुमति नहीं दे पाते हैं। यहाँ तक कि तद्भव मोक्षगामी, त्रेसठ शलाका पुरुष तीर्थकर आदि भी जब दीक्षा लेते है तब उनको भी सहर्ष दीक्षा की अनुमति नहीं देते हैं। तब असाधारण जन साधारण दीक्षार्थी के लिए अनुमति दे ही देंगे यह कैसे संभव है। यदि सबकी अनुमति से ही दीक्षा होगी तब प्रायः अनेक तीर्थंकर भी दीक्षा नहीं ले सकेंगे। क्योंकि उनके भी भाई-बंधु कुटुम्बी अनुमति देने की बात दूर, रोते-धोते रोकते भी हैं। शास्त्र में अनेक ऐसे उदाहरण मिलते हैं जहाँ अनुमति लेने की बात तो दूर, बिना सूचना दिये दीक्षा ले ली, और तो कुछ ने बंधुओं के विरोध करने पर भी दीक्षा ले ली। उसके लिए सुकुमार, सुकौशल, सती सीता आदि के उदाहरण प्रसिद्ध हैं। आगम में यह भी पाया

जाता है कि जिस दीक्षार्थी के बंधु वर्ग दुष्ट हो उस दीक्षार्थी को जन्म स्थान से दूर ले जाकर उनको आचार्य शिक्षा-दीक्षा देते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि धर्म पालन करने के लिए सब कोई स्वतंत्र है। स्वतंत्र भारत के संविधान में भी जीने का अधिकार, अभिव्यक्ति के अधिकार साथ धर्म पालन करने का भी अधिकार दिया है इसे ''मौलिक अधिकार'' कहते हैं।

सम्यग्दृष्टि मुमुक्षु जीव गृहस्थ धर्म को त्याग करके मुनि धर्म इसलिये स्वीकार करना चाहता है कि गृहस्थ धर्म में रहते हुए थोड़ा तो धर्म होता है, परन्तु अधर्म ज्यादा होता है। गृहस्थ में रहते हुए छठवाँ आदि गुणस्थान, उत्कृष्ट धर्मध्यान, शुक्लध्यान, केवल बोधिलाभ हो ही नहीं सकता है। गृहस्थों का धर्म गजस्नानवत् क्रिया है। जिस प्रकार गज स्नान करके कुछ समय के लिए स्वच्छ हो जाता है पर जलाशय के बाहर आकर पुनः धूली मिट्टी डालकर गंदा हो जाता है। उसी प्रकार गृहस्थ दान-पूजा स्वाध्याय आदि में थोड़ा तो पुण्य कमाता है पर आरंभ परिग्रह से अधिक पाप कमा लेता है इसलिये गृहस्थ में कभी भी किसी को मोक्ष नहीं होता है चाहे वह तद्भव मोक्षगामी तीर्थंकर भी क्यों न हो ? आत्मानुशासन में कहा भी है-

सर्वं धर्ममयं क्वचित्क्वचिदिपि प्रायेण पापात्मकं
क्वाप्येतद्द्वयवत्करोति चरितं प्रज्ञाधनानामपि।
तस्मादेष तदन्धरज्जुवलनं स्नानं गजस्याथवा।
मत्तोन्मत्तविचेष्टितं न हि हितो गेहाश्रमः सर्वथा।। (41)

गृहस्थाश्रम विद्वज्जनों के भी चरित्र को प्रायः किसी सामायिक आदि शुभ कार्य में पूर्णतया धर्मरूप, किसी विषयभोगादिरूप कार्य में पूर्णतया पाप रूप तथा किसी जिनगृहादिके निर्माणादिरूप कार्य में उभय रूप करता है। इसलिये यह गृहस्थाश्रम अंधे के रस्सी भांजने के समान, अथवा हाथी के स्नान के समान अथवा शराबी या पागल की प्रवृत्ति के समान सर्वथा हितकारक नहीं है।

इसलिये मुमुक्षु मोह-राग, लोभ दुःख की खान स्वरूप गृहस्थावस्था को त्याग कर मुनि बन जाता है। कुंदकुंद देव ने कहा भी है-

सावय-धम्मं चत्ता, जदि-धम्मे जो दु वट्टदे जीवो।
सो ण य वज्जदि मोक्खं, धम्मं इदि चिंतए णिच्चं।। (81)

जो जीव श्रावक धर्म को छोड़कर मुनियों के धर्म में प्रवृत्त होता है, वह मोक्ष को नहीं छोड़ता (उसे मोक्ष प्राप्त हुए बिना नहीं रहता)। इस प्रकार निरंतर धर्म का (धर्म-भावना का) चिंतन करना चाहिएं।

चलचवलजीविदमिणं णाऊण माणुसत्तणमसारं।
णिव्विण्णकामभोगा धम्मम्मि उवट्ठिदमदीया।। (774)

यहाँ जीवन बिजली के समान चंचल है वह मनुष्य पर्याय असार है, ऐसा जानकर काम भोगों से उदास होते हुए धर्म में बुद्धि को स्थिर करो।

णिम्मालियसुमिणाविय धणकणयसमिद्धवंबंधवजणं च।
पयहंति वीर पुरिसा विरत्तकामा गिहावासे।। (776)

गृहवास से विरक्त हुए वीर पुरुष उतारी हुई माला के समान धन सुवर्ण से समृद्ध बांधव जन को छोड़ देते हैं।

जम्मणमरणुव्विग्गा भीदा संसारवासमसुभस्स।
रोचंति जिणवरमिदं पावयणं वड्ढमाणस्स।। (777)

जो जन्म-मरण से उद्विग्न हैं, संसारवास में दुःख से भयभीत हैं, वे जिनवर के मतरूप, वर्द्धमान के प्रवचन का श्रद्धान करते हैं।

पवरवरधम्मतित्थं जिणवरवसहस्स वड्ढमाणस्स।
तिविहेण सद्दहंति य णत्थि इदो उत्तरं अण्णं।। (778)

जो जिनवर वृषभदेव और वर्धमान के श्रेष्ठ धर्मतीर्थ का मन-वचन-काय से श्रद्धान करते हैं क्योंकि इससे श्रेष्ठ अन्य तीर्थ नहीं है।

उच्छाहणिच्छिदमदी ववसिदववसायबद्धकच्छा य।
भावाणुरायरत्ता जिणपण्णत्तम्मि धम्मम्मि।। (779)

उत्साह में बुद्धि दृढ़ करने वाले पुरुषार्थ में प्रयत्नशील व्यक्ति जिनवरकथित धर्म में भाव सहित अनुरक्त होते हैं।

धम्ममणुत्तरमिमं कम्ममलपडलपाडयं जिणक्खादं।
संवेगजायसड्ढा गिण्हंति महव्वदा पंच।। (780)

कर्ममल समूह का नाशक जिनेन्द्र द्वारा कथित यह धर्म अनुत्तर है। इस तरह संवेग से उत्पन्न हुई श्रद्धा से सहित मुनि पंच महाव्रतों को ग्रहण करते हैं।

मुमुक्षु गृहस्थावस्था को त्याग कर अणुव्रती से महाव्रती बन जाता है। महाव्रतो का निरतिचार पालन करता हुआ भी उसका लक्ष्य शाश्वतिक ध्रुव आत्मतत्त्व को प्राप्त करने में रहता है। महाव्रत में भी त्याग एवं ग्रहण होने से, शुभोपयोग होने से इससे पाप का संवर तथा निर्जरा होती है परन्तु पूर्णक्षय नहीं होता है। इसलिये पूर्ण कर्म क्षय के लिए संपूर्ण संकल्प-विकल्प को त्याग करके आत्मा में स्थिर होना अनिवार्य है। पूज्यपाद स्वामी ने कहा भी है-

त्यकत्वैवं बहिरात्मानमन्तरात्मव्यवस्थितः।
भावयेत्परमात्मानं सर्वसंकल्पवर्जितम्।। (27) (समाधितंत्र)

बहिरात्मावस्था को अत्यंत हेय (त्यागने योग्य) समझकर छोड़ देना चाहिए और आत्मस्वरूप का ज्ञायक अंतरात्मा होकर जगत् के द्वंद्व-फंद चिंता आदि से मुक्त हुआ आत्मोत्थ स्वाधीन सुख की प्राप्ति के लिए परमात्मा के चिंतन आराधना पूर्वक तद्रूप बनने की भावना करनी चाहिए।

सोऽहमित्यात्तसंस्कारस्तस्मिन् भावनया पुनः।
तत्रैव दृढ़संस्काराल्लभते ह्यात्मनि स्थितिम्।। (28)

जब ''सोऽहम्'' की दृढ़ भावना द्वारा परमात्मा के साथ जीवात्मा की एकत्व बुद्धि हो जाती है तभी इस जीव को अपनी अनंत चतुष्टय रूपनिधि का परिज्ञान हो जाता है और वह अपने को वीतरागी परमआनंद स्वरूप मानने लगता है। उस समय काल्पनिक क्षणिक सांसारिक सुख के कारण बाह्य पदार्थों में उसका ममत्व छूट जाता है, राग-द्वेष की मंदता हो जाती है और अभेदबुद्धि से परमात्मस्वरूप का चिंतवन करते-करते अपने आत्मस्वरूप में स्थिर हो जाता है। इसी को आत्मलाभ कहते हैं, जिसके फलस्वरूप आत्मा अनंतकाल तक निराकुल अनुपम स्वाधीन सुख का भोक्ता होता है। अतः 'सोऽहम्' की यह भावना बड़ी ही उपयोगी है, उसके द्वारा अपने आत्मा में परमात्मपद के संस्कार डालने चाहिए।

अपुण्यमव्रतैः पुण्यं व्रतैर्मोक्षस्तयोर्व्ययः।
अव्रतानीव मोक्षार्थी व्रतान्यपि ततस्त्यजेत्।। (83)

मोक्षार्थी पुरुष को मोक्ष प्राप्ति के मार्ग में जिस प्रकार पंच अव्रत विघ्नस्वरूप है उसी प्रकार पाँच व्रत भी बाधक है, क्योंकि लोहे की बेड़ी जिस प्रकार बंधकारक है उसी प्रकार सोने की बेड़ी भी बंधकारक है। दोनों प्रकार की बेड़ियों का अभाव होने पर जिस प्रकार लोक व्यवहार में मुक्ति (आजादी) समझी जाती है उसी प्रकार परमार्थ में भी व्रत और अव्रत दोनों के अभाव से मुक्ति मानी गई है। अतः मुमुक्षु को अव्रतों की तरह व्रतों को भी छोड़ देना चाहिए।

अव्रतानी परिज्यज्य व्रतेषु परिष्ठितः।
त्येजेत्तान्यपि संप्राप्य परमं परमात्मनः।। (84)

प्रथम तो हिंसादिक पंच पापरूप अशुभ प्रवृत्ति को छोड़कर अहिंसादिक व्रतों के अनुष्ठानरूप शुभ प्रवृत्ति करनी चाहिए। साथ ही अपना लक्ष्य शुद्धोपयोग की ओर ही रखना चाहिए। जब आत्मा के परमपदरूप शुद्धोपयोग की परमवीतरागतामय क्षीण कषाय नामक गुणस्थान की संप्राप्ति हो जावे तब उन व्रतों को भी छोड़ देना चाहिए। लेकिन जब तक वीतरागदशा न हो जावे तब तक व्रतों का अवलम्बन रखना चाहिए जिससे अशुभ की ओर प्रवृत्ति न हो सके।

णिच्छयणएण जीवो, सागारणगारधम्मदो भिण्णो।
मज्झत्थभावणाए, सुद्धप्पं चिंतए णिच्छं।। (82) पृ. 47 द्वा अ.

जीव निश्चनय से गृहस्थ (सागार) धर्म और मुनि (अनगार) धर्म से भिन्न है। इसलिये इन दोनों के मध्यस्थ भावना से (मध्यमस्थ भाव रखकर) शुद्धात्मा का निरंतर चिंतन करना चाहिए।

जिन दीक्षार्थी जैनाचार्य की शरण प्राप्त करता है-
समणं गणिं गुणङ्ढं कुलरूववयोविसिट्ठमिट्ठदरं।
समणेहि तं पि पणदो पडिच्छ मं चेदि अणुगहिदो।। (203)

He prostrates himself before a (great) saint, the head of on ascetic band, rich in virtues, endowed with distinetive tomily, form and age and honoured by ascetics, saying, "Admit me; and he is favoured (with admission to the ascetic community).

जिनदीक्षा का अर्थी जिस आचार्य के पास जाकर दीक्षा की प्रार्थना करता है उसका स्वरूप बताते है। वह निंदा व प्रशंसादि में समताभाव को रखकर पूर्व सूत्र में कहे गये निश्चय और व्यवहार पंच प्रकार के आचार पालने में प्रवीण होते हैं, चौरासी लाख गुण और अठारह हजार शील के सहकारी कारणरूप जो अपने शुद्धात्मा का अनुभव रूप उत्तमगुण उससे परिपूर्ण होते हैं। लोगों की घृणा से रहित जिनदीक्षा के योग्य कुल वाले होते हैं। अंतरंग शुद्धात्मा का अनुभव रूप निर्ग्रंथ निर्विकार रूप वाले होते हैं। शुद्धात्मानुभव को विनाश करने वाले वृद्धपने, बालपने व यौवनपने के उद्धतपने से पैदा होने वाली बुद्धि की चंचलता से रहित होने से वय वाले होते हैं। इन कुल, रूप तथा वय से श्रेष्ठ तथा अपने परमात्मा तत्त्व की भावना सहित समचित्त धारी अन्य आचार्यों के द्वारा सम्मत होते हैं। ऐसे गुणों से परिपूर्ण परमभाव के साधक दीक्षा के दाता आचार्य का आश्रय करके उनको नमस्कार करता हुआ दीक्षा हेतु प्रार्थना करता है।

शरणमशरणं वो बन्धवो बन्धमूलं चिरंपरिचितदारा द्वारमापद्गृहाणाम्।
विपरिमृशत पुत्राः शत्रवः सर्वमेतत् त्यजत भजत धर्म निर्मलं शर्मकामाः।। (60)।

हे भव्यजीवों! जिसे तुम शरण (गृह) मानते हो वह तुम्हारा शरण (रक्षक) नहीं है, जो बन्धुजन है वे राग-द्वेषक निमित्त होने से बन्ध के कारण हैं, दीर्घ काल से परिचय में आई हुई स्त्री आपत्तियोंरूप गृहों के द्वार के समान है, तथा जो पुत्र हैं वे अतिशय राग द्वेष के कारण होने से शत्रु के समान हैं; ऐसा विचार कर यदि आप लोगों को सुख की अभिलाषा है तो इन सबको छोड़कर निर्मल धर्म की आराधना कर।

तत्कृत्यं किमिहेन्धनैरिव धर्मराशग्निसंधुक्षणैः।
संबन्धेन किमङ्ग शश्वदशुभैः संबन्धिभिर्बन्धुभिः।
किं मोहाहिमहाबिलेन सदृशा देहेन ग्रेहेन वा।
देहिन् याहि सुखाय ते सममुं मा गाः प्रमादं मुधा।(61)

हे शरीरधारी प्राणी! ईन्धन के समान तृष्णारूप अग्नि को प्रज्ज्वलित करने वाले धन से यहाँ तुझे क्या प्रयोजन है ? अर्थात् कुछ भी नहीं। पाप के कारणभूत सम्बधियों

(नातेदारी) एवं अन्य बंधुओं (भ्राता आदि) के साथ संबंध रखने से तुझे क्या प्रयोजन है ? कुछ भी नहीं। मोहरूप सर्प के दीर्घ बिल (बांबी) के समान शरीर अथवा गृह से भी तुझे क्या प्रयोजन है ? कुछ भी नहीं। ऐसा विचार कर हे भव्य जीव! तू सुख के निमित्त उस तृष्णा की शांति को प्राप्त हो इसमें व्यर्थ प्रमाद न कर।।

विशेषार्थ-सुख वास्तव में वही हो सकता है जिसमें आकुलता न हो। वह सुख धन के द्वारा नहीं प्राप्त हो सकता है। कारण यह कि जितना जितना धन बढता है उतनी ही अधिक उत्तरोत्तर तृष्णा भी बढ़ती जाती है, जैसे कि घी के डालने से उत्तरोत्तर अग्नि अधिक बढ़ती है। इस प्रकार जहाँ तृष्णा है-आकुलता है वहाँ भला सुख कहाँ से मिल सकता है? इसके अतिरिक्त जितना कष्ट धन के उपार्जन में होता है उससे भी अधिक कष्ट उसकी रक्षा में होता है। यदि रक्षण करते हुए भी वह दुर्भाग्य से कदाचित् नष्ट हो गया तो फिर प्राणी के दुख का पारावार भी नहीं रहता है। इसीलिये तो उसे भी प्राण कहा जाता है। इतना ही नहीं, बहुत से धनान्ध मनुष्य तो उस धनरूप प्राण की रक्षा करने में वास्तविक प्राण भी दे देते हैं। इससे निश्चित प्राण की रक्षा करने में वास्तविक प्राण भी दे देते है। इससे निश्चित होता है कि धन वास्तव में सुख का कारण नहीं है। इसी प्रकार से माता, पिता, पुत्र एवं अन्य सम्बन्धी जनों का संयोगभी उस सुख का कारण नहीं हो सकता है। इसका कारण यह है कि उनका संयोग होने पर यदि उनकी प्रवृत्ति अनुकूल हुई तब तो उनमें अनुरागबुद्धि उत्पन्न होती है। और यदि उनकी प्रवृत्ति प्रतिकूल हुई तो इससे उद्वेग उत्पन्न होता है। ये दोनों (राग-द्वेष) ही कर्मबन्ध के कारण हैं। उक्त बन्धु वर्ग में भी मुख्यता स्त्री की होती है। कारण कि उसके ही निमित्त से कुटुम्ब की वृद्धि और तदर्थ धनार्जन की चिन्ता होती है इसीलिये तो यह कहने की आवश्यकता हुई कि ''स्त्रीतः चित्त निवृत्तं चेन्ननु वित्त किमीहसे। मृतमण्डनकल्पो हि स्त्रीनिरीहे धनग्रहः।।'' अर्थात् हे मन! यदि तू स्त्री की ओर से हट गया है- तुझे स्त्री की चिंता नहीं रही है तो फिर तू धन की इच्छा क्यों करता है? अर्थात् फिर धन की इच्छा नहीं रहना चाहिये, क्योंकि स्त्री की इच्छा न रहने फिर धन का उपार्जन करना इस प्रकार व्यर्थ है जिस प्रकार से कि मृत शरीर का आभूषण आदि से श्रृंगार करना। (सा. ध. 6-36) इसी प्रकार जिस शरीर को अपना समझकर अभीष्ट आहार आदि के द्वारा पुष्ट किया जाता है वह भी सुख का कारण न होकर

दुःख का ही कारण होता है। कारण यह कि वह अनेक रोगों का स्थान है और उसके रोगाक्रान्त होने पर जो वेदना उत्पन्न होती है उसके निवारण के लिये प्राणी विकल होकर प्रयत्न करता है। फिर भी कभी न कभी वह छूटता ही है। इसके अतिरिक्त उपर्युक्त स्त्री एवं पुत्र आदि कौटुम्बिक सम्बन्ध भी इस शरीर के ही आश्रित है उनका सम्बन्ध कुछ अमूर्तिक आत्मा के साथ नहीं है। इस प्रकार उपर्युक्त सब ही दुःखों का मूल कारण वह शरीर ही ठहरता है। अब जब निरन्तर साथ में रहने वाला वह शरीर भी सुख का कारण नहीं है तो भला गृह आदि अन्य पदार्थ तो सुख के कारण हो ही कैसे सकते है? इस प्रकार विचार करने पर सुख का कारण उस तृष्णा का अभाव (संतोष) ही सिद्ध होता है। वह यदि प्राप्त है तो धन के अधिक न होने पर भी प्राणी निराकुल रहकर सुख का अनुभव करता है, किन्तु उसके बिना अटूट सम्पत्ति के होने पर भी प्राणी निरंतर विकल रहता है।। 61।

सत्यं वदात्र यदि जन्मनि बन्धकृत्य माप्तं त्वया किमपि बन्धुजनाद्धितार्थम्।
एतावदेव परमस्ति मृतस्य पश्चात् संभूय कायमहितं तव भस्मयन्ति।।83।।

हे! जीव यदि तूने संसार में भाई-बन्धु आदि कुटुम्बी जनों से कुछ भी हितकर बंधुत्व का कार्य प्राप्त किया है तो उसे सत्य बतला। उनका केवल इतना ही कार्य है कि मर जाने के पश्चात् वे एकत्रित होकर तेरे अहितकारक शरीर को जला देते हैं। विशेषार्थ-बंधु का अर्थ हितैषी होता है। परंतु जिन कुटुम्बी जनों को बन्धु समझा जाता है वे वास्तव में प्राणी का कुछ भी हित नहीं करते हैं बल्कि इसके विपरीत वे राग-द्वेष के कारण बनकर उसका अहित ही करते हैं। इसीलिये विवेकी जनको बन्धुजन में अनुरक्त न होकर अपने आत्म हित में ही लगना चाहिये।

जन्मसंतानसंपादिविवाहादिविधायितः।
स्वाःपरेऽस्य सकृत्प्राणहारिणो न परे परे।(84)।

जो कुटुम्बी जन जन्म-परंपरा(संसार) को बढ़ाने वाले विवाहादि कार्य को करते हैं वे इस जीव के शत्रु हैं, दूसरे जो एक ही बार प्राणों को अपहरण करने वाले हैं वे यथार्थ में शत्रु नहीं है। विशेषार्थ-जो अपना अहित करे वही वास्तव में शत्रु है-किन्तु जिसे प्राणी शत्रु मानता है वह सचमुच में शत्रु नहीं है। कारण यह कि यदि वह अधिक से अधिक अहित करेगा तो केवल एक बार प्राणों का वियोग कर सकता है,

इससे अधिक वह और कुछ भी नहीं कर सकता है। किन्तु जो कुटुम्बीजन विवाहादि को करके प्राणी को संसार वृद्धि के कारणों में प्रवृत्त करते हैं वास्तविक शत्रु तो वे ही हैं, क्योंकि उनके द्वारा अनेक भवों का घात होने वाला है-राग-द्वेषादि की वृद्धि के कारण होने से वे अनेक भवों को दुखमय बनाने वाले हैं।

धनरन्धनसंभारं प्रक्षिप्याशहुताशने।
ज्वलन्त मन्यते भ्रान्तुः शान्तं सन्धुक्षणक्षणे।85।

आशा (विषयतृष्णा) रूप अग्नि में धनरूप ईन्धन के समूह को डालकर भ्रान्ति को प्राप्त हुआ प्राणी उस जलती हुई आशारूप अग्नि को जलने के समय में शान्त मानता है।। विशेषार्थ- जिस प्रकार अग्नि में ईन्धन के डालने से वह उत्तरोत्तर बढ़ती ही है- कम नहीं होती उसी प्रकार अधिक अधिक धन के संचय से यह विषयतृष्णा भी उत्तरोत्तर बढ़ती ही है कम नहीं होती। अग्नि जब ईन्धन को पाकर अधिक भड़क उठती है तब मूर्ख से मूर्ख प्राणी भी उसे शान्त नहीं मानता। परन्तु आश्चर्य है कि विषयसामग्री रूप ईन्धन को पाकर उस तृष्णारूप अग्नि के भड़क उठने पर भी यह प्राणी उसे (विषयतृष्णाअग्नि को) और उसमें जलते हुए अपने को भी शान्त मानता है। यह उसकी बड़ी अज्ञानता है।।

पलितच्छलेन देहान्निर्गच्छति शुद्धिरेव तव बुद्धेः।
कथमिव परलोकार्थं जरी वराकस्तदा स्मरति।।(86)

हे भव्य! बालों की धवलता के मिष से तेरी बुद्धि की निर्मलता ही शरीर से निकलती जा रही है। ऐसी अवस्था में बिचारा वृद्ध उस समय परभव में हित करने वाले कार्यों का कैसे स्मरण कर सकता है ? अर्थात् नहीं कर सकता है।। विशेषार्थ- वृद्धावस्था के प्राप्त होने पर बाल सफेद होने लगे हैं। इसके ऊपर यहाँ यह उत्प्रेक्षा की गई है कि वह बालों की सफेदी क्या है मानों निर्मल बुद्धि ही शरीर से निकलकर बाहिर आ रही है, अभिप्राय उसका यह है कि वृद्धावस्था में जैसे-जैसे शरीर शिथिल होता जाता है वैसे ही वैसे प्राणी की बुद्धि भी भ्रष्ट होती जाती है। उस समय उसकी विचारशक्ति नष्ट हो जाती है तथा करने योग्य कार्य का स्मरण भी नहीं रहता है। ऐसी दशा में यदि कोई मनुष्य यह विचार करे कि अभी मैं युवा हूँ, इसलिये इस समय इच्छानुसार धन कमाकर विषय सुख का अनुभव करूंगा और तत्पश्चात् वृद्धावस्था

के प्राप्त होने पर आत्मकल्याण के मार्ग में लगूंगा। ऐसा विचार करने वाले प्राणियों को ध्यान में रखकर यहाँ यह बतलाया है कि वृद्धावस्था में इन्द्रियाँ शिथिल और बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है तथा व्रत एवं जप-तप आदि करने का शरीर में सामर्थ्य भी नहीं रहता है। इसके अतिरिक्त मृत्यु का भी कोई नियम नहीं है वह वृद्धावस्था के पूर्व में भी आ सकती है। अतएव वृद्धावस्था के ऊपर निर्भर न रहकर उसके पहिले ही, जब कि शरीर स्वस्थ रहता है, आत्मकल्याण के मार्ग में व्रतादि के आचरण में प्रवृत्त हो जाना अच्छा है।।

इष्टार्थोद्यदनाशितं भवसुखक्षाराम्भसि प्रस्फुरन्।
नानामानसदुःखवाडवशिखासंदीपिताभ्यन्तरे।।

जो संसार रूप भयानक समुद्र मनोहर पदार्थों के निमित्त से उत्पन्न होने वाले असन्तोषजनक सुखरूप खारे जल से परिपूर्ण है, जिसका भीतरी भाग अनेक प्रकार के मानसिक दुखों रूप वडवानल की ज्वालाओं से जल रहा है; तथा जो मरण, जन्म एवं वृद्धत्वरूप लहरों से चंचल है; उस भयानक संसार-समुद्र में जो विवेकी प्राणी मोहरूप हिंस्र जल जन्तुओं (मगर आदि) के फाडे हुए मुखरूप बिल से दूर रहते हैं वे दुर्लभ हैं। विशेषार्थ-यह संसार भयानक समुद्र के समान है-समुद्र में जहाँ तृष्णा (प्यास) को न शान्त कर सकने वाला खारा जल रहता है वहाँ संसार में तृष्णा (विषयाभिलाषा) को न शान्त कर सकने वाला इष्ट विषयभोगजनित सुख रहता है, समुद्र में यदि वडवानल की ज्वालाओं से उसका जल जलता रहता है तो संसार में भी प्राणी अनेक प्रकार के मानसिक दुःखों से जलते (संतप्त) रहते हैं; समुद्र में जहाँ उसको क्षुब्ध करने वालो बडी बडी लहरों की परम्परा चलती है यहाँ संसार में भी प्राणी को पीडित करने वाली लहरों के समान जन्म, जरा और मरण की परम्परा चलती रहती है; तथा समुद्र में यदि मगर एवं घडियाल आदि हिंसक जन्तु रहते हैं तो संसार में भी घातक मोह रहता है। इस प्रकार संसार और समुद्र इन दोनों के समान होने पर जिस प्रकार गम्भीर एवं अपार समुद्र में गिरे हुए प्राणियों का उसमें स्थित मगर मत्स्यादिके मुख से बचना अशक्य है-विरला ही कोई भाग्यवान् बचता है, उसी प्रकार संसार में स्थित प्राणियों का मोह से बचना अशक्य है- (विरले ही विवेकी जीव उसके प्रभाव से बचते हैं।।

अव्युच्छिन्नैः सुखपरिकरैर्लालिता लोलरम्यैः
श्यामाङ्गीनां नयनकमलेरर्चिता यौवनान्तम्।
धन्योऽसि त्वं यदि तनुरियं लब्धबोधेर्मृगीभि
र्दग्धारण्ये स्थलकमलिनीशङ्कयालोक्यते ते।।(88)।

निरन्तर प्राप्त होने वाली सुख-सामग्री से पालित और यौवन के मध्य में सुन्दर स्त्रियों के चंचल एवं रमणीय नेत्रोंरूप कमलों से पूजित अर्थात् देखा गया ऐसा वह तेरा शरीर विवेक ज्ञान के प्राप्त होने पर यदि जले हुए वन में हिरणियों के द्वारा स्थलकमलिनी की आशंका से देखा जाता है तो तू धन्य है- प्रशंसा के योग्य है! विशेषार्थ-जिसने निरन्तर सुख सामग्री को प्राप्त करके विषयसुख का अनुभव किया है तथा यौवन के समय में जिसको अनेक सुन्दर स्त्रियाँ चाहती रही हैं वह यदि विवेकज्ञान को प्राप्त करके वन में स्थित होता हुआ दुर्द्धर तप का आचरण करता है तो तप से कृश उसके सुकुमार शरीर को देखकर हिरणियों को जंगल में आग से जली हुई स्थलकमलिनीका भ्रम होने लगता है। ऐसे वे भव्यजीव ही वास्तव में पुण्यशाली है। जिन्हें समस्त सुख सामग्री के सुलभ रहने पर भी आत्म कल्याण के लिये उसे छोड़ने में किसी प्रकार क्लेश का अनुभव नहीं हुआ वे स्तुतिके योग्य हैं। आश्चर्य तो उन जीवों के ऊपर होता है जो कि यथेष्ट सुख सामग्री के न मिलने से निरन्तर दुःखी रहकर भी तद्विषयक मोह को नहीं छोड़ना चाहते हैं।।

बाल्ये वेत्सि न किंचिदप्यपरिपूर्णाङ्गो हितं वाहितं।
कामान्धः खलु कामिनीद्रुमघने भ्राम्यन् वने यौवने।।
मध्ये वृद्धतृषार्जितु वसु पशुः क्लिश्नासि कृष्यादिभि
र्वार्द्धिक्येऽर्धमृतः क्व जन्म फलिते धर्मो भवेन्निर्मलः।।(89)।

प्राणी बाल्यावस्था में शरीर के पुष्ट न होने से कुछ भी हित-अहित को नहीं जानता है। यौवन अवस्था में काम से अन्धा होकर स्त्रियोंरूप वृक्षों से सघन उस यौवनरूप वन में विचरता है, इसलिये यहाँ भी वह हिताहित को नहीं जानता है। मध्यम (अधेड) अवस्था में पशु समान अज्ञानी हेकर बढी हुई तृष्णा को शान्त करने के लिये खेती व वाणिज्य आदि के द्वारा धन के कमाने में तत्पर रहकर खिन्न होता है, तः इस समय भी हिताहित को नहीं जानता है तथा वृद्धावस्था के प्राप्त होने पर वह

अधमरे के समान होकर शरीर से शिथिल हो जाता है, इसलिये यहाँ भी हिताहित का विवेक नहीं रहता है। ऐसी दशा में हे भव्यजीव! कौन-सी अवस्था में धर्म का आचरण करके तू अपने जन्म को सफल कर सकता है ? विशेषार्थ-बाल्यावस्था शरीर के परिपुष्ट न होने से प्राणी अपने हिताहित को ही नहीं समझ सकता है। यौवन अवस्था में प्रायः वह काम से पीडित होकर विषय सामग्री खोज में रहता है। इसके पश्चात् अधेड अवस्था में वह धन के कमाने में आसक्त होकर उसके द्वारा वृद्धिंगत धन की तृष्णा को समाप्त करना चाहता है, परंतु इससे उसका शांत होना तो दूर ही रहा, वह उत्तरोत्तर बढती ही अधिक है। अब रही वृद्धावस्था, सो यहाँ समस्त इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती है, शरीर रोगाक्रान्त हो जाता है, तथा स्मृति भी जाती रहती है। इस प्रकार से वे सब अवस्थायें यो ही बीत जाती हैं और वह अज्ञानी प्राणी कुछ भी आत्महित नहीं कर पाता। किन्तु हाँ जो विवेकी प्राणी हैं वे यौवन अवस्था में विषय सुख को भोग करके तत्पश्चात् उसे उच्छिष्ट के समान छोड देते हैं और आत्मकल्याण के मार्ग में प्रवृत्त हो जाते हैं। कुछ ऐसे भी महापुरुष होते हैं जो उन कष्टदायक विषयों में अनुरक्त न होकर प्रारम्भ में ही संयम एवं तप आदि के साधने में प्रवृत्त हो जाते हैं। परन्तु ऐसे महापुरुष विरले ही हैं, अधिक प्राणी तो वे ही अज्ञानी जीव हैं जो पूर्वोक्त अवस्थाओं में से किसी भी अवस्था में आत्महित को नहीं करते हैं।।

बाल्येऽस्मिन् यदनेन ते विरचितं स्मतु च तन्नोचितं।
मध्ये चापि धनार्जनव्यतिकरैस्तर्तुनास्ति यन्नापितः।।
वार्द्धिक्येऽप्यभिभूय दन्तदलनाद्याचेष्टितं निष्ठुरं।
पश्याद्यापि विधेर्वशेन चलितुं वाञ्छत्येहो दुर्मते।।(90)।

हे दुर्बुद्धि प्राणी! इस विधि (कर्म) ने बाल्यकाल में जो तेरा अहित किया है उसका स्मरण करना भी योग्य नहीं है। मध्यम अवस्था में भी ऐसा कोई दुःख नहीं है जिसे कि उसने धनोपार्जन आदि कष्टप्रद कार्यों के द्वारा तुझे न प्राप्त कराया हो। वृद्धावस्था में भी उसने तुझे तिरस्कृत करके निर्दयतापूर्वक दाँत तोड देने आदि का प्रयत्न किया है। फिर देख तो सही कि तेरा इतना अहित करने पर भी आज भी तू उक्त कर्म के ही वशीभूत होकर प्रवृत्ति करने की इच्छा करता है। विशेषार्थ- यह अज्ञानी प्राणी दूसरों के विषय में हित और अहित की कल्पना करके तदनुसार उन्हें मित्र और

शत्रु समझने लगता है। परन्तु वास्तव में जो उसका अहितकारी शत्रु कर्म है उसकी ओर इसका ध्यान ही नहीं जाता है। जीव बाल्यावस्था में जो गर्भ एवं जन्म आदि के असह्य दुःख को भोगता है उसका कारण वह कर्म ही है। तत्पश्चात् यौवन अवस्था में भी कुछ कर्म के ही उदय से प्राणी कुटुम्ब भरण पोषण की चिन्ता से व्याकुल होकर धन कमाने आदि में लगता है और निरन्तर दुस्सह दुःख को सहता है। इसी कर्म के निमित्त से ही और निरन्तर दुःसह दुःखों को सहता है। इसी कर्म के निमित्त से वृद्धावस्था में इन्द्रियाँ शिथिल पड जाती है, शरीर विकृत हो जाता है, और दाँत टूट जाते है। इस प्रकार जो कर्म सब ही अवस्थाओं में उसका अनिष्ट कर रहा है उसे अहितकर न मानकर वह अज्ञानी प्राणी आगे भी उसी के वश में रहना चाहता है। लोक में देखा जाता है कि जो मनुष्य किसी का एक बार भी अनिष्ट करता है उससे वह भविष्य में किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रखता। इसी प्रकार यदि कोई दाँत तोड़ना तो दूर रहा, किन्तु यदि दाँत तोडने के लिये कहता ही है तो मनुष्य उसे अपना अपमान करने वाला मानकर यथाशक्ति उसके प्रतीकार के लिये प्रयत्न करता है। फिर देखो कि जो कर्म एक बार ही नहीं, किन्तु बार-बार प्राणी का अनिष्ट करता है तथा दाँत तोड़ने के लिये कहता ही नहीं, बल्कि वृद्धावस्था में उन्हें तोड ही डालता है; उस अहितकर कर्म के ऊपर इस प्राणी को क्रोध नहीं आता। इसीलिये उसका प्रतीकार करना तो दूर रहा, किन्तु वह भविष्य में भी उसी कर्म के अधीन रहना चाहता है।

जीव के वैभाविक परिणाम को निमित्त प्राप्त करके पुद्गल कार्य रूप में स्वयं ही परिणमन करता है उसी प्रकार इस श्लोक में आचार्य श्री वर्णन कर रहे हैं कि पूर्वबद्ध पौद्गलिक कर्म के उदय को निमित्त मात्र प्राप्तकर जीव भी स्वयं ही ज्ञानावरणादि रूप वैभाविक भाव रूप में परिणमन करता है। जीव स्वयं जब चैतन्य रूप में परिणमन करता है तब पौद्गलिक कर्म उस परिणमन के लिए निमित्त मात्र बनते हैं। जिस प्रकार योग्य मिट्टी स्वयं घड़ा रूप में परिणमन करती है तब चक्र, कुम्हार, डण्डा, चीवर आदि के निमित्त की आवश्यकता होती है परन्तु चक्र आदि घड़ा रूप में परिणमन नहीं करते हैं। तथापि चक्र आदि के निमित्त के बिना मिट्टी घड़ा रूप में परिणमन नहीं कर सकती है।

मिथ्याज्ञान : संसार का बीज

अयमेव कर्मकृतैः, भावैरसमाहितोपि युक्तः इव।
प्रतिभाति बालिशानां प्रतिभासः स खलु भवबीजम्।।(14) पु. सि.

इसी प्रकार पौद्गलिक कर्म के भावों से जीवों के भाव मिले हुए नहीं होने पर भी अज्ञानी को मिले हुए लगते हैं। इसी प्रकार प्रत्यक्षीभूत चैतन्य स्वरूप आत्मा कर्मकृत भाव से, पर्यायों से, नर, देव आदि रूपी पर्यायों से निश्चयनय से अयुक्त होने पर भी, असम्बन्ध होने पर भी अज्ञानी के लिये, मूर्खों के लिये परमार्थ से तृण अग्नि से अलग होने पर भी अग्नि को तथा तृण को एक समान मान लेता है। उसी प्रकार अज्ञानी जीव को एवं कर्म को एक मान लेता है भले दोनों अलग-अलग हैं। जिस प्रकार अग्नि से तपायमान लौह पिण्ड को दृष्टि भ्रम से अग्नि मान लेता है। उसी प्रकार अज्ञानी जीव को एवं कर्म को एक मान लेता है भले दोनों अलग-अलग हैं। जिस प्रकार अग्नि से तपायमान लौह पिण्ड को दृष्टि भ्रम से अग्नि मान लेता है परन्तु अग्नि तथा लौह पिण्ड पृथक्-पृथक् हैं। इसी प्रकार नर, अमर आदि पर्याय आत्मा से भिन्न होते हुए यह भी मोहान्धकार से कलुषित चेतना वाले मनुष्य को अभिन्न दिखाई देती हैं। यही प्रतिभास/अभिन्नता भव के लिये बीज स्वरूप बन जाती है। उसी प्रकार निश्चय से पूर्वोक्त प्रतिभास स्वरूप जीव कर्मबन्ध रूप भव बीज होता है। संसार का कारण होता है।

पुरुषार्थसिद्धि का उपाय

विपरीताऽभिनिवेशं निरस्य सम्यग्व्यवस्य निजतत्त्वम्।
यत्तस्मादविचलनं स एव पुरुषार्थसिद्ध्युपायोऽयम्।।(15)।

जो विपरीत अभिनिवेश स्वरूप एकान्तादि मिथ्या श्रद्धान रूप अभिनिवेश को दूर करके निज आत्म तत्त्व को सम्यक् से जानकर स्वीकार करके स्वतत्त्व में अविचल हो जाता है वह पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय को प्राप्त कर लेता है। यही पुरुषार्थसिद्ध्युपाय अर्थात् मोक्षार्थ उपाय है। विपरीत अभिनिवेश का वर्णन भाव संग्रह के अनुसार-जिस प्रकार धतूरा कोद्रव मदिरा से मोहित जीव कार्य अकार्य को नहीं जानता है उसी प्रकार मिथ्या से मोहित जीव सम्यक् स्वरूप को नहीं जानता है वह

मिथ्यात्व विपरीत आदि भेद से सप्त प्रकार का है। अहिंसा लक्षण धर्म को अन्यथा स्वरूप से अर्थात् हिंसा रूप में मानना विपरीत मिथ्यात्व है। किस प्रकार यज्ञादि में हिंसा करने से गवादि पशु की वन्दना करने से जल स्नान से, श्राद्धादि करने से मोक्ष की उपलब्धि हो सकती है। जो जीवादि वस्तु को सर्वथा सत् स्वरूप, असत् स्वरूप, एक स्वरूप, अनेकस्वरूप या क्षणिक रूप मानना एकान्त मिथ्यादृष्टि है। केवल विनय से ही मोक्ष प्राप्त होता है ऐसा मानना विनय मिथ्यात्व है। क्या रत्नत्रय के बिना केवल गुरु पाद पूजादि रूप विनय से ही मोक्ष प्राप्त हो सकता है ? जो सर्वत्र संशय को प्राप्त होता है तथा निश्चित रूप में तत्त्व का यथार्थ स्वरूप श्रद्धान नहीं करता है उसे संशय मिथ्यात्व कहते हैं। किस प्रकार प्रत्यक्षादि प्रमाण से जाना गया अर्थ में, देशान्तर में, कालान्तर में, व्यभिचार हो सकता है ? आप्त वचन आदि प्रमाण से जिसका निर्णय नहीं हो सकता है तथा संशय से युक्त है वह संशय मिथ्यात्व है। केवली-मुक्ति, स्त्री मुक्ति प्रतिमा अलंकार सहित इत्यादि चौरासी महान् वाक्य निरूपण के कारण संशय मिथ्यात्व है। अज्ञान से ही मोक्ष होता है ऐसा मानना अज्ञान मिथ्यात्व है। ज्ञानोपयोग, दर्शनोपयोग लक्षण वाला जीव होते हुए भी अज्ञान से मोक्ष मानना अज्ञान मिथ्यात्व है। जीव का अभाव मानना चार्वाक या भौतिकवादी दृष्टि है। पंचभूत से निर्मित शरीर में मदशक्ति रूप तात्कालिक शक्ति का संचार ही जीव है। और वह जीव न पहले था न अभी रहेगा ऐसा मानना भौतिकवादी सिद्धान्त है। जीवों को अस्थि रूप में मानना परन्तु जीव द्वारा किया गया पुण्य पापादि का फल जीव भोग नहीं करता है परन्तु प्रकृति भोगती है परन्तु जीव स्वभाव में परिणमन करता है ऐसा मानना सांख्य मिथ्यात्व है या एकान्त आध्यात्मिक मिथ्यात्व है। ये सब मिथ्यादृष्टि काल अपेक्षा भरत क्षेत्र में होते हैं अर्थात् भाव मिथ्यात्व तो हर क्षेत्र हर काल में संभव है। परन्तु द्रव्य मिथ्यात्व तो केवल हुण्डा-अवसर्पिणी काल में भरत ऐरावत क्षेत्र में होता है। स्थूल दृष्टि से मिथ्यात्व सप्त प्रकार का है। परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से मिथ्यात्व असंख्यात लोक मात्र है। पित्तज्वर से आक्रान्त पुरुष को दुग्धादि मधुर रस नहीं रुचता उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि को अहिंसा लक्षण, रत्नात्रयात्मक धर्म नहीं रुचता है। इसी प्रकार समस्त मिथ्यादृष्टियों को पुरुषार्थ सिद्धि की कभी भी उपलब्धि नहीं होती है। इसी प्रकार का विचार करके स्याद्वाद से अलंकृत भगवत् वचन रूपी दिनकर रश्मि से मिथ्यात्व को

दूर करके शुद्धात्मा स्वरूप ज्ञान में ही निज स्वरूप में जो स्थित होता है वही मोक्ष का उपाय है। मिथ्यात्व का स्वरूप अन्य ग्रन्थों में विस्तार से वर्णन किया गया है विशेष जिज्ञासु उस ग्रन्थ से अध्ययन करें।

मुनियों की अलौकिक वृत्ति

अनुसरतां पदमेतत्, करंविताचार नित्य-निरभिमखाः।
एकांत विरति रूपा भवंति मुनीनामलौकिकी वृत्तिः।।(16)।

संसार-रहित वृत्ति अर्थात् अलौकिक आचार निर्ग्रन्थ मुनियों के होते हैं। इस आत्म तत्त्व पद का अनुसरण करता हुआ मुनि समस्त पापों से निवृत्त होकर व्यवहार से मिला हुआ आचार से सदैव विमुख होकर अर्थात् पाप क्रिया से मुक्त व्यवहार से विरक्त होकर सदैव आलौकिक वृत्ति अर्थात् पाप रहित वृत्ति में विचरण करता है। कहा भी है-

भव्य मुमुक्षु विचार करता है कि मैं कब एकाकी, निस्पृह, शाान्त, पाणिपात्री, दिगम्बर होकर कर्म को नष्ट करने में सक्षम बनूँ। इसलिए समस्त पाप से विरक्ति मुनि की होती है न कि गृहस्थों की।

एकदेश व्रत के उपदेश के योग्य शिष्य

बहुशः समस्त विरतिं, प्रदर्शिता यो न जातु गृह्णाति।
तस्यैकदेश विरतिः, कथनीयाऽनेन बीजेन।(17)।

जिस पुरुष को समस्त पाप विरक्ति रूप मुनिमार्ग का प्रदर्शन करने पर भी शक्ति की कमी के कारण ग्रहण नहीं कर पाता है उस भव्य जीव को एकदेश विरति रूप श्रावकाचार को बार-बार समझाना चाहिए। जो भव्य मुनिधर्म को अंगीकार करने में असमर्थ हैं उसे श्रावक धर्म का उपदेश देना चाहिये। यही इसका भावार्थ है।

दंडनीय उपदेश

यो यति धर्ममकथयन्नुपदिशति गृहस्थ धर्म्ममल्प मतिः।
तस्य भगवत्प्रवचने, प्रदर्शितं निग्रह स्थानम्।(18)।

जो उपदेश दाता गुरु सर्व-सावद्य विरतिरूप मुनिधर्म का कथन न करके

केवल गृहस्थ धर्म स्वरूप कुछ विरक्त कुछ अविरक्त रूप व्रत का कथन करता है वह पुरुष अल्पमति है। ऐस अल्प, तुच्छ, स्तोक बुद्धि वाला गुरु केवल गृहस्थ धर्म का कथन करता है। वह भगवत् प्रवचन में दण्डनीय स्थान को प्राप्त होता है। इसका रहस्य यह है कि पहले मुमुक्षु भव्य को मुनिधर्म का प्रवचन देना चाहिए। और यदि वह मुनिधर्म को स्वीकार करने में असमर्थ होता है तो गृहस्थ धर्म अर्थात् श्रावक धर्म का उपदेश देना चाहिए।

योग्य शिष्य को अपूर्ण उपदेश से हानि

अक्रमकथनेन यतः, प्रोत्साहमानोऽतिदूरमपि शिष्यः।
अपदेऽपि संप्रवृत्तः, प्रतारितो भवति तेन दुर्मतिना।(19)।

18 वें नम्बर श्लोक में जो कहा गया है कि जो पहले मुनिधर्म का उपदेश न देकर के गृहस्थ धर्म का उपदेश देता है वह दण्डनीय हैं। उसका कारण यह है कि जिसके कारण से मुमुक्षु शिष्य उपासक रूपी अपदस्थ गृहस्थ धर्म में प्रवृत्त हो जाता है जिसके कारण से दुर्बुद्धि गुरु के द्वारा शिष्य वंचित हो जाता है, ठगा जाता है। पहले अति उत्साहित होकर जब शिष्य गुरु के पास आकर धर्मश्रवण एवं ग्रहण करना चाहता है तब गुरु को पहले उत्साह के अनुसार उसे उत्कृष्ट मार्ग मुनिमार्ग का उपदेश देना चाहिये परन्तु इसके विपरीत श्रावक धर्म का कथन करने से वह उत्साहमान् भी शिष्य निश्चय धर्म रूप मुनिधर्म को न जानकर व्यवहार रूप श्रावक धर्म को अंगीकार कर लेता है। व्यवहार कथन से और निश्चय अकथन से व्यवहार ही निश्चय ऐसा जानकर शिष्य व्यवहार का ही आचरण करता है। अतः उपदेश दाता गुरु शिष्य को संसार सागर में ही रुला देता हैं। अतः मुनिधर्म को पहले प्रकाशन करना चाहिए उसके बाद श्रावक धर्म का कथन करना चाहिये।

उपदेश ग्रहण करने वाले पात्र का कर्त्तव्य

एवं सम्यग्दर्शन बोध-चारित्र त्रयात्मको नित्यम्।
तस्याऽपि मोक्षमार्गो, भवति निषव्यो यथाशक्ति ।(20)।

आत्मा रत्नत्रय स्वरूप है। अतः मोक्षमार्ग तथा मोक्ष भी रत्नत्रयात्मक है। इसलिए मोक्ष के लिए रत्नत्रय की आराधना यथाशक्ति करनी चाहिए। परन्तु गुरुओं को निश्चय मोक्ष

मार्ग तथा व्यवहार मोक्षमार्ग का कथन करना चाहिए। इसलिए गुरु को क्रम कथन को यथाशक्ति उल्लंघन नहीं करना चाहिए। यथाशक्ति अक्रम कथन से दर्शन, ज्ञान, चारित्रात्मक मोक्ष मार्ग का निषेध हो जाता है क्योंकि आत्मा सदैव रत्नत्रयात्मक है।

समीक्षा- मोक्ष प्राप्ति का पूर्ण अद्वितीय मार्ग रत्नत्रय ही है। अनंत अनंतशिष्यों ने इस मार्ग पर चलते हुए मोक्ष को प्राप्त किया है। अनन्त ज्ञान को प्राप्त करके पूर्ण रूप प्रत्यक्ष रूप से अनुभव करके रत्नत्रयात्मक मार्ग को ही यथार्थ मार्ग और इससे व्यतिरिक कुमार्ग, दुःख का मार्ग एवं संसार का मार्ग कहा है। आचार्यप्रवर समन्तभद्र स्वामी ने कहा भी है-

सद्दृष्टिज्ञान वृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः।
यदीय प्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धति।।3।।

सद्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र ही धर्म है, मोक्ष का मार्ग है इससे विपरीत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान एवं कुचारित्र ही कुधर्म है, दुःख का मार्ग है, संसार का मार्ग है ऐसे धर्म के ज्ञाता धर्म के प्रभु ने बताये हैं। आचार्य उमास्वामी ने भी मोक्ष प्रतिपादक शास्त्र का प्रतिपादन करते हुए प्रथम पंक्ति में बताया है कि-

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणिमोक्षमार्गः।। (1)। (तत्वार्थ सूत्र)

Right belef (right) knowledge (right) conduct these (to gether constitute) The path to liberation.

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यग्चारित्र इन तीनों का सम्यक् संयोग रूप त्रयात्मक (रत्नत्रयः) मोक्ष का मार्ग है।

"self reverence, self knowledge and self control.

These three alone lead to savereign power."

आध्यात्मिक दर्शन के समर्थ प्रचार प्रसारक कुन्दकुन्दस्वामी आध्यात्मिक जगत् की अद्वितीय कृति समयसार में भी विमुक्ति मार्ग का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं :-

जीवादी सद्दहणं सम्मतं तेसिमधिगमो णाणं।
रागादीपरिहरणं चरणं ऐसो दु मोक्खपहो।।(62)।।

सम्यग्दर्शन :-

जीवादि सद्दहणं सम्मतं=जीवादिनवपदार्थानांविपरीताभिनिवेशरहितत्वेन श्रद्धानं साम्यग्दर्शनं।

जीवादि सद्दहण सम्मत=जीवादि नव पदार्थ का विपरीत अभिप्राय से रहित जो सही श्रद्धान है, वही सम्यग्दर्शन है।

सम्यग्ज्ञान :-

तेसिमधिगमोणाणं=तेषामेव संशयविमोहविभ्रमरहितत्वेनाधिगमो निश्चयः परिज्ञानं सम्यग्ज्ञानं।

तेसिमधिगमो णाणं= उन्हीं जीवादि पदार्थों का संशय-उभयकोटिज्ञान, विमोह विपरीत एक कोटिज्ञान, विभ्रम-अनिश्चित ज्ञान, इन तीनों से रहित जो यथार्थ अधिगम होता है, निर्णय कर लिया जाता है, जान लिया जाता है, वह सम्यग्ज्ञान कहलाता है।

सम्यक् चरित्र :-

रागादि परिहरणं चरणं=तेषामेव सम्बन्धित्वेन रागादि परिहारश्चारित्रं।

रागादि परिहरणं चरणं और उन्हीं के सम्बन्ध से होने वाले जो रागादिक विभाव होते हैं दूर हटा देना सो सम्यक् चरित्र कहलाता है।

व्यवहार मोक्षमार्ग :-

एसो दु मोक्खपहो इत्येष व्यवहार मोक्षमार्गः।

यह व्यवहार मोक्षमार्ग है।

निश्चय-मोक्षमार्ग :-

भूतार्थनय के द्वारा जाने हुये उन्हीं जीवादि पदार्थों को अपनी शुद्ध-आत्मा से पृथक् अन्य में ठीक-ठीक अवलोकन करना निश्चय सम्यग्दर्शन कहलाता है। और जीवादि पदार्थों को अपनी शुद्धात्मा से पृथक् रूप में जानना सो निश्चय सम्यग्ज्ञान है। और उनको शुद्धात्मा से भिन्न जानकर रागादि रूप विकल्प से रहित होते हुये अपनी शुद्धात्मा में अवस्थित होकर रहना, निश्चय सम्यक्चरित्र है, इस प्रकार यह निश्चय मोक्षमार्ग हुआ। नेमीचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती द्रव्यसंग्रह में निश्चय-व्यवहार मोक्षमार्ग का वर्णन करते हुए निम्न प्रकार बताते हैं-

सम्मंद्दसण णाणं चरणं मोक्खस्स कारणं जाणे।
ववहारा णिच्छयदो तत्तियमइओ णियो अप्पा।(39)।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों के समुदाय को व्यवहार से मोक्ष का कारण जानो। तथा निश्चय से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और चरित्र स्वरूप जो निज आत्मा है, उसको मोक्ष का कारण जानो।

रत्नत्रय व्यवहार मोक्षमार्ग है। निश्चय से रत्नत्रय रूप परिणत आत्मा ही मोक्षमार्ग है। स्वयं आत्मा ही निश्चय से मोक्षमार्ग किस प्रकार होता है ? इसका प्रति उत्तर देते हुये आचार्य श्री ने कहा है-

रयणत्तयंण वट्टइ अप्पाणं मुइत्तु अण्णदवियम्हि।
तम्हां तत्तियमइयो होदि हु मोक्खस्स कारणं आदा।।

The three jewels (i.e perfect knowledge and perfect conduct) do not exist in any other in substance, excepting the soul. Therefore, the soul surley is the cause of liberation.

आत्मा को छोड़कर अन्य द्रव्य में रत्नत्रय नहीं रहता, इस कारण उस रत्नत्रयमयी जो आत्मा है, वही निश्चय से मोक्ष कारण है।

कुन्दकुन्द स्वामी ने भी यह भेदाभेदात्मक निश्चय व्यवहारात्मक मोक्षमार्ग का प्रतिपादन करते हुये कहा है।

दंसण णाण चरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणां णिच्चं।
ताणि पुण जाण तिण्णिवि अप्पाणं चेव णिच्छयदो।।।

साधु को व्यवहार नय से सम्यग्दर्शन ज्ञान और चरित्र इन तीनों को भिन्न-भिन्न समझकर नित्य-सदा ही इनकी उपासना करनी चहिये। अपने उपयोग में लाना चाहिए। किन्तु शुद्ध निश्चय नय से वे तीनों एक शुद्धात्मा स्वरूप ही हैं। उससे भिन्न नहीं हैं ऐसा समझना चाहिए। इसका अर्थ यह है कि पञ्चेन्द्रियों के विषय और क्रोधादि कषायों से रहित जो निर्विकल्प समाधि है उसमें ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों होते हैं।

पर अपकारी होता है स्व अपकारी

(रागी द्वेषी मोही स्वार्थी कामी होते हैं स्वअपकारी)

(चाल :- 1. आत्मशक्ति...2. क्या मिलिए...) आचार्य कनकनन्दी

जो औरन का उपकार करे, वह करता है स्व-उपकार।
मनवचन कायकृत कारित, अनुमत से करता स्व उपकार।।
अन्य के अपकार सोचने मात्र से, स्वयं बान्धता है पापकर्म।
उसके कारण उसे दण्ड मिले, (ऐसा) नव कोटि से मिले पापफल।। (1)

और का अपकार हो या न हो, यह उसके (अन्य) होता कर्माधीन।
स्व-स्व कर्मानुसार ही जीव पाते, सुख-दुःख से ले परिनिर्वाण।।
अन्य को जलाने हेतु यदि कोई, अग्नि को लेता है स्वहस्त में।
उसका हाथ पहले अवश्य जले, अन्य जले अथवा नहीं भी जले।। (2)

विश्व का इतिहास इसमें साक्षी, रावण कंस जरासन्ध हिटलर।
जो और को मारना चाहते थे, वे मारे गये स्वदोषों से।।
ऐसा ही शिकार-शिकारी तथा, हिरण-सिंह, भक्ष्य तथा भक्षक।
शोषणकारी राजा व शोषित प्रजा, हिरण होते अधिक सिंह कम।। (3)

तथाहि शोषक राजा हो रहे लोप, शोषित प्रजा का नहीं लोप।
राजमहल व किले हो रहे लोप, प्रजा के साधारण घर अनल्प।।
जो आत्मस्वभाव को जाने बिना, शरीर को ही मानता स्वरूप।
सत्ता सम्पत्ति प्रसिद्धि वर्चस्व, शत्रु मित्र भाई बन्धु में आसक्त।। (4)

करते अन्याय अत्याचार अशेष, शोषण मिलावट आतंकवाद तक।
आक्रमण युद्ध हत्या बलात्कार, वैर विरोध निन्दादि अपकार।।
इस से स्वयं का भी होता अपकार, इहपरलोक में पाता दुःख अपार।
पर हेतु स्व का ही करे अपकार, अन्य न भोगते स्व के दुःख अपार।

ऐसे जीव होते स्वआत्मघातक, आत्मश्रद्धान ज्ञान चारित्र रिक्त।
अनादि (काल) से यह क्रम प्रवाह मान, रागद्वेष मोह से होकर आछन्न।।
आयुर्वेद से ले आधुनिक विज्ञान तक, ऐसे जीव भोगते आधि-व्याधि तक।

तनाव उदासीनता से आत्माहत्या तक, धन जन मान हानि करते ये लोक।।(6)

राग द्वेष मोह से जब होता विरक्त, तब जाने आत्म परमात्म स्वरूप।
हिताहित विवेक तब होता जागृत, जिससे जीव स्वउपकार में प्रवृत्त।।
सत्य समता शान्ति में होता प्रवृत्त, अहिंसा क्षमादि से करे पावन चित्त।
स्वपर विश्व हित हेतु में प्रवृत्त, मैत्री प्रमोद कारुण्य माध्यस्थ चित्त।। (7)
तीर्थंकर बुद्ध ईसा मसिहा आदि, इस के लिए प्रसिद्ध उदाहरण।
यह परम आध्यात्मिक स्वरूप, इसे स्वआदर्श माने ''कनक श्रमण''।।

ग.पु.कॉ. 22.5.2020 रात्रि 11.54

संदर्भ-

मानस रोगों के सामान्य निदान

1.आयुर्वेद सिद्धांत के अनुसार सभी प्रकार की शारीरिक एवं मानसिक व्याधियों के तीन मुख्य कारण होते हैं। यह निम्नलिखित हैं-

1. असात्मेन्द्रियार्थ संयोग
2. प्रज्ञापराध
3. परिणाम

शारीरिक दोष वात, पित्त एवं कफ होते हैं। इनमें वात दोष सबसे प्रधान तथा सभी क्रियाओं का नियन्ता होता है। इसी प्रकार मानस दोषों में रज्ज की प्रधानता होती है। रज दोष के बिना तम दोष की प्रवृत्ति नहीं होती।

1. असात्मेन्द्रियार्थ संयोग

ज्ञानेन्द्रियां पांच होती हैं- श्रोत,त्वक्, चक्षु, रसना एवं घ्राण। इन पांचों ज्ञानेन्द्रियों का अपने-अपने विषय के साथ अतियोग (अधिक संयोग होना), अयोग (पूर्णतः संयोग नहीं होना), अथवा मिथ्यायोग (कभी संयोग होना और कभी संयोग न होना) होना ही असात्मेन्द्रियार्थ संयोग कहलाता है। इन्द्रियां पांच होती हैं तथा प्रत्येक में तीन विकार अतियोग, अयोग एवं मिथ्यायोग हो सकता है। अर्थात् कुल 15 प्रकार से असात्मेन्द्रियार्थ संयोग हो सकता है।

(1) कर्णेन्द्रिय

1. अत्यधिक ऊंचे शब्द जैसे मेघ गर्जन, नगाड़े की आवाज, अत्यंत तीव्र आवाज में संगीत सुनना इत्यादि कणेन्द्रिय का अपने विषय के साथ अतियोग है।
2. कर्णेन्द्रिय से किसी प्रकार के शब्दों का सुनायी नहीं देना अयोग कहलाता है।
3. अप्रिय, निन्दित, कठोर, दुःख कारक शब्दों को सुनना कर्णेन्द्रिय का मिथ्या योग है।

(ii) त्वक् इन्द्रिय

1. अत्यधिक शीतल अथवा अत्यंत उष्ण द्रव्यों का त्वचा के साथ संयोग होना त्वक् इन्द्रिय का अतियोग है।
2. शीत, उष्ण, अभ्यंग, परिषेक आदि का त्वचा से स्पर्श न होना त्वचा का अयोग है।
3. अपवित्र वायु का स्पर्श, या आघात लगना अथवा विषाक्त द्रव्यों का त्वचा से संयोग होना त्वक् इन्द्रिय का मिथ्या योग है।

(iii) दर्शनेन्द्रिय

1. अत्यंत चमक वाली वस्तु जैसे सूर्य, विद्युत बल्ब, आकाशीय विद्युत, टेलीविजन पर तेज चमक में चलचित्र देखना दर्शनेन्द्रिय का अतियोग है।
2. किसी वस्तु का सर्वथा न देखना दर्शनेन्द्रिय का अयोग है।
3. अतिसमीप, अतिद्ररस्थ,भयंकर, उग्र, वीभत्स, विचित्र, विकृत शव इत्यादि का देखना दर्शनेन्द्रिय का मिथ्यायोग है।

(iv) रसनेन्द्रिय

1. मधुर, अम्ल, लवण आदि रसों का अत्यधिक सेवन रसनेन्द्रिय का अतियोग है।

2. किसी भी रस का सेवन न करना अथवा रसहीन पदार्थ का सेवन रसनेन्द्रिय का अयोग है।

3. अपथ्य, अखाद्य द्रव्यों का सेवन, अष्टाहारविधि विशेषायतन एवं द्वादशासन विधियों का उल्लंघन करना रसनेन्द्रिय का मिथ्यायोग है।

(v) घ्राणेन्द्रिय

1. अत्यंत तीव्र अथवा अत्यंत उग्र गन्ध का सूँघना घ्राणेन्द्रिय का अतियोग है।

2. किसी भी प्रकार के गन्ध को नहीं सूँघना घ्राणेन्द्रिय का अयोग है

3. दुर्गन्ध युक्त, अपवित्र गन्ध, विषाक्त गन्ध को सूँघना घ्राणेन्द्रिय का मिथ्या योग है।

2. प्रज्ञापराध

प्रज्ञा का अर्थ ''धी'' होता है। धी, धृति एवं स्मृति के विभ्रंस होने के फलस्वरूप जब पुरुष ऐसे अनुपयुक्त कार्य करने लगता है जो दोषों को प्रकृपित करते हैं तो उसे प्रज्ञापराध करते हैं। यहाँ पर ''बुद्धि(धी)'' के द्वारा ज्ञान की प्राप्ति होती है। ''धृति के द्वारा प्राप्त ज्ञान का धारण किया जाता है एवं ''स्मृति'' के द्वारा आवश्यकता होने पर संचित ज्ञान का स्मरण किया जाता है।

मन, वाणी एवं शरीर की प्रवृत्ति को कर्म कहा जाता है। इन तीनों की प्रवृत्ति का अतियोग, अयोग अथवा मिथ्यायोग प्रज्ञापराध कहा जाता है।

(i) कर्म का अतियोग

मन, वाणी एवं शरीर कर्मों का अपनी शक्ति से अधिक कार्य करना कर्म का अतियोग है।

(ii) कर्म का अयोग

वाणी, मन अथवा शरीर के जो भी स्वाभाविक कर्म है उनमें प्रवृत्त नहीं होना कर्मों का अयोग है।

(iii) कर्म का मिथ्यायोग

जैसे अधारणीय वेगों का धारण, प्रवृत्त हो रहे वेगों को रोकना, शरीर के लिए कष्टकर कार्य जैसे मद्यपान, व्रत उपवास, अति धूप आदि का सेवन करना कर्म का मिथ्यायोग है।

3. परिणाम

काल को ही परिणाम कहा जाता है क्योंकि काल ही सभी प्रकार के अच्छे अथवा बुरे कर्मों को धर्म-अधर्म रुप में परिणत कर यथा समय उनका फल देने वाला होता है।

काल के लक्षणों का अतियोग, अयोग और मिथ्यायोग, सभी प्रकार के शरीर या मानस रोगों का निमित्त कारण होता है।

(i) काल का अतियोग

शीतकाल में शीत का अथवा अष्ण काल में गर्मी का और वर्षाकाल में वर्षा का अत्यधिक होना काल का अतियोग है।

(ii) काल का अयोग

शीत काल में शीत का पूर्णतः न होना या अत्यल्प मात्रा में शीत होना, ग्रीष्म काल में गर्मी का अभाव और वर्षा ऋतु में बारिश का न होना या अत्यलप होना काल का अयोग है।

(iii) काल का मिथ्यायोग

शीतकाल में गर्मी होना अथवा वर्षा होना, ग्रीष्म ऋतु में शीत अथवा वर्षा होना, और वर्षा ऋतु में ग्रीष्म या शीत होना काल का मिथ्यायोग है।

बदलते वातावरण एवं दूषित होते हुए पर्यावरण के फलस्वरूप आजकल काल का मिथ्यायोग अधिक हो रहा है जैसे खाड़ी देशों में इस वर्ष भारी वर्षा हुई जो कि अद्‌भुत था, क्योंकि पिछले सैकड़ों वर्षों के बाद रेगिस्तान में वर्षा हुई है।

अतः यह कहा जा सकता है कि असात्मेन्द्रियार्थ संयोग, प्रज्ञापराध एवं परिणाम मानस रोगों की उत्पत्ति में महत्वपूर्ण कारण होते हैं।

ii. रज एवं तम मानस दोष एवं मनोरोग

मानस दोष दो होते हैं जो रज एवं तम। रज दोष सर्वाधिक क्रियाशील होता है एवं मन के दूसरों अंशों को भी क्रियाशील रहता है। मनुष्य शरीर में प्रत्येक इच्छा, आकांक्षा के उत्पत्ति का मूल कारण रज दोष ही है एवं यही विभिन्न प्रकार के मानस विकारों को उत्पन्न करता है।

तम दोष गुरु तथा स्थिर स्वभाव वाला होता है। यह इन्द्रिय ग्रहण एवं मानसिक प्रतिक्रियाओं में व्यवधान उत्पन्न करता है। तम के कारण ही मिथ्याज्ञान, आलस्य, तन्द्रा, निद्रा इत्यादि की उत्पत्ति होती है।

iii चित्तवृत्तियां एवं मनोरोग

पातञ्जली योग सूत्र में पांच प्रकार की चित्तभूमि बतायी गयी है। इनके नाम एवं मुख्य दोष निम्न प्रकार हैं-

1. मूढ़ : तम दोष
2. क्षिप्त : रज दोष
3. विक्षिप्त : रज एवं तम दोष
4. एकाग्र : सत्व गुण
5. निरुद्ध : सत्व गुण

उपरोक्त वर्णन में प्रथम दो चित्त भूमियों में रज एवं तम का बाहुल्य तथा तीसरे में रज एवं तम दोष की साम्यावस्था है। एकाग्र एवं निरुद्ध मे सत्व गुण के कारण यह मानस रोग उत्पादक नहीं है। अधिकतर मानस रोगों की उत्पत्ति मूढ़ एवं क्षिप्त अवस्थाओं में ही होती है।

iv मानस प्रकृतियाँ एवं मानस रोग

मानस रोगों का मूल कारण राजस एवं तामस दोष है। मानस प्रकृतियाँ 16 होती है जिनमें सत्व गुण से सात प्रकृतियाँ, राजस दोष से छः प्रकृतियाँ तथा तामस दोष से तीन प्रकृतियाँ उत्पन्न होती हैं। सत्व गुण कल्याणकारी होता है तथा दोष रहित होता है। राजस मन में रोष (क्रोध) अंश की प्रधानता होती है अतः वह दोषकारक

होती है। तामस अंश में मोह अंश की प्रधानता होती है अतः वह भी दोष युक्त होती है1।

अतः राजस एवं तामस प्रकृतियाँ मानस रोग का कारण होती हैं।

v. अल्प सत्वता एवं मानस रोग

सत्व निम्न प्रकार का होता है-

1. प्रवर सत्वः मानसिक रूप से सत्व

2. मध्यम सत्वः थोड़े उपायों से पूर्ण सत्व

3. अवर सत्व : अथवा हीन मनोबल (निकृष्ट)

अल्प सत्व वाले व्यक्ति अपने मानस भावों को नहीं रोक पाते हैं तथा मामूली सी समस्याओं से ही अत्यधिक परेशान एवं बेचैन हो जाते हैं। अल्प सत्व वाला व्यक्ति शारीरिक रूप से शक्तिशाली तो हो सकता है परंतु मानसिक रूप से अत्यन्त दुर्बल होता है। उनके मन में भय, शोक, लोभ, मोह आदि विकार भरे रहते हैं। वे विकृत, रौद्र, घृणित विषय अथवा रक्त, मांस आदि को देखकर ही विषाद, मूर्च्छा, उन्माद, शिरोभ्रम से घिर जाते हैं जिसके फलसवरूप अनेक प्रकार के मानस विकारों के शिकार हो जाते हैं।

vi सद्वृत की उपेक्षा एवं मानस रोग

आयुर्वेद के संहिता ग्रंथों में सद्वृत का विस्तृत वर्णन मिलता है। सद्वृत्त का समुचित रूप से पालन करना मानस स्वाथ्य को बढ़ाने वाला होता है। संहिता ग्रंथों में अनेक प्रकार के सद्वृत का सम्मिलित रूप में विस्तृत वर्णन है। इसके अंतर्गत, व्यक्तिगत, सामाजिक, धार्मिक, व्यावहारिक आदि घटकों को सम्मिलित किया गया है। समुचित रूप से सद्वृत पालन से मानस रोगों से बचाव किया जा सकता है परंतु सद्वृत एवं आचार रसायन का पालन नहीं करने से अनेक प्रकार के मानस रोग उत्पन्न होते हैं। यम, नियम, आसन, प्राणायाम को भी सद्वृत के अंतर्गत मानकर इनके नियमित पालन से मानस रोगों की उत्पत्ति को रोका जा सकता है।

vii मानस भाव एवं मानस रोग उत्पादन में उनकी भूमिका

मानस दोष रज एवं तम के प्रकोप होने के फलस्वरूप अनेक मनोभाव उत्पन्न होते हैं जो मानस रोगों की उत्पत्ति में प्रमुख भूमिका निभाते हैं। मनोविकारों के कारण मनुष्य अपने मूल मार्ग एवं उद्देश्य से भटक जाता है एवं अनेक प्रकार का मानस व्याधियों अथवा मनोदैहिक विकारों से ग्रस्त हो जाता है। मानस रोगों की उत्पत्ति में भाग लेने वाले कुछ प्रमुख विकार निम्नलिखित हैं-

1. काम (Lust)	2.क्रोध (Anger)
3. लोभ (Greed)	4.मोह (Delusion)
5. ईर्ष्या (Jealousy)	6. मान (Pride)
7. मद (Neurosis)	8. शोक (Grief)
9. चिन्ता (Depression)	10. उद्वेग (Ansiety)
11. भय (Fear)	12. हर्ष (Euphoria)
13. दैन्य (Misery)	14. अमर्ष (Intolerence)
15. आवेग (Excitement)	16. ग्लानि (Doigust)
17. शंका (Umcertainty)	18. घृणा (Hatred)
19. जड़ता (Dullness)	20. उग्रता (Fiercencess)
21. हठ (Obstinacy)	22. विलाप (Groaning)
23. श्रम (Fatigue)	24. उत्सुकता (Eagernness)
25. स्मृति (Recollection/Memory)	

उपरोक्त सभी मनोभाव शरीर एवं मनस में विभिन्न प्रकार की विकृतियां उत्पन्न करते हैं। इनमें से अनेक मनोभाव ऐसे हैं जो प्रतिक्रिया स्वरूप दूसरे मनोभावों को उत्पन्न करते हैं। कुछ प्रमुख मनोभावों का वर्णन नीचे किया जा रहा है-

1. लोभ (Greed)

किसी वस्तु विशेष के प्रति अत्यधिक प्रीति अथवा लालच उत्पन्न हो जाना ही लोभ की अवस्था है। इस अवस्था में व्यक्ति का मानस स्वास्थ्य प्रभावित होता है

तथा यदि वह व्यक्ति अपने स्वभाव को यथाशीघ्र संतुलित करने में असफल रहता है तो धीरे-धीरे वह मानसिक रोगी हो जाता है।

2. मोह (Delusion)

यदि लोभ ग्रस्त व्यक्ति की समुचित चिकित्सा नहीं की जाये अथवा लोभ अत्यधिक बढ़ गया हो, तो वह अवस्था ही मोह कहलाती है। मोह अत्यंत विकृत मानस स्थिति है। उसमें व्यक्ति अज्ञानता से घिर जाता है तथा उस व्यक्ति के लिए हानि-लाभ अथवा उचित-अनुचित का निर्णय करना अत्यंत कठिन हो जाता है।

3. क्रोध (Anger)

किसी के प्रति अभिद्रोह करना अथवा मन, वाणी एवं कर्म के द्वारा विरोध करना अथवा मन के मनोभावों एवं उमंगों (Emotions) द्वारा मन में अत्यंत भयंकर क्रोध की उत्पत्ति हो सकती है। यदि क्रोध पर तत्काल समुचित नियंत्रण नहीं हो पाता है तो यह अत्यंत घातक हो सकता है तथा अनेक प्रकार की सामाजिक कठिनाईयों एवं व्यक्तिगत परेशानियों के माध्यम से मानस स्वास्थ्य को प्रभावित करता है।

4. शोक (Grief)

मानव मस्तिष्क में दीनता के भाव उत्पत्ति को शोक कहा जाता है जो व्यक्ति के मुखमण्डल द्वारा स्पष्टतः परिलक्षित होता है। शोक के अनेकों कारण हो सकते हैं। वस्तुतः इच्छित वस्तु की समयानुकूल अप्राप्ति ही शोक का मूल कारण है जो अनेक मनोविकारों को उत्पन्न करता है जैसे व्यग्रता, उदासी, रुदन, व्यक्ति का अपने सामाजिक परिवेश से कट जाना इत्यादि।

5. विलाप (Groaning)

विलाप का तात्पर्य रुदन से हैं। यह प्रायः शोक की व्यक्तावस्था होती है। जब व्यक्ति शोक की अवस्था को सहन करने में असमर्थ हो जाता है तो वही स्थिति अश्रु के रूप में विलाप द्वारा प्रकट होती है जिसके फलस्वरूप अनेक मनोदैहिक विकार उत्पन्न होते हैं। यह अत्यंत दीनता की स्थिति है।

6. प्रीति (Attachement)

जब मनुष्य किसी के आचरण, क्रिया कलाप एवं व्यवहार को पसंद करता है एवं उसके प्रति मन में संतोष की भावना उत्पन्न होती है इस अवस्था विशेष को प्रीति का सूचक माना जाता है। प्रीति प्रारम्भिक अनुराग, प्रेम अथवा लगाव की सूचक होती है। प्रीति के विशिष्ट स्वरूप अथवा अवस्था को हर्ष कहते हैं। अर्थात् केवल संतोष प्रकट करना प्रीति है तथा विशिष्ट अथवा आनंददायक कार्य को हर्ष कहा जाता है।

7. भय (Fear)

किसी कार्य, व्यक्ति परिस्थिति अथवा मानस दुर्बलता से किसी व्यक्ति को होने वाली हानि की सम्भावना से उस व्यक्ति में भय उत्पन्न होता है। पुरुष के भय ग्रस्त होने का पता उसके विषाद युक्त मुख मण्डल से हो जाता है। भय के कारण उसके नेत्रों में कातरता उत्पन्न हो जाती है। वह अपने को सुरक्षित छिपाना चाहता है परंतु किसी का साथ भी नहीं छोड़ना चाहता है। भयग्रस्त व्यक्ति को अत्यधिक पसीना आता है, वाणी स्तम्भित हो जाती है एवं अनेक प्रकार के मानस रोगों की उत्पत्ति हो जाती है।

8 इर्ष्या (jealousy)

जब व्यक्ति में हीन भावना उत्पन्न हो जाती है तो वह ईर्ष्यालु प्रवृत्ति का हो जाता है फलस्वरूप मन में धीरे-धीरे रोष एवं विद्रोह की भावना उत्पन्न होती है उसे ईर्ष्या कहते हैं। ईर्ष्या में व्यक्ति अंदर ही अंदर कुपित होता रहता है तथा अपने क्रोध एवं व्यग्रता को समय-समय पर व्यक्त करता है एवं अन्ततः अनेक प्रकार की मानस व्याधियों से घिर जाता है।

9. श्रद्धा (Devotion)

किसी वस्तु अथवा व्यक्ति को देखकर उसके प्रति हृदय में अनुराग की भावना उत्पन्न होना ही श्रद्धा है। यह अनुराग अथवा श्रद्धा किसी के भी प्रति हो सकती है। श्रद्धा के अंतर्गत किसी वस्तु विशेष की प्राप्ति की इच्छा नहीं होकर भक्ति भावना अथवा आदर एवं सम्मान देने की इच्छा होती है, यही श्रद्धा है। श्रद्धा से मानस स्वास्थ्य उन्नत होता है एवं सत्व गुण की वृद्धि होती है।

10. स्मृति (Recollection)

पूर्व काल में दृष्ट, श्रुत अथवा अनुभव अनुभूत ज्ञान का स्मरण करना ही स्मति कहलाती है। यथार्थ ज्ञान का स्मरण करने से चिन्ता, शोक, दुःख आदि मानस भावों की उत्पत्ति नहीं होती है जैसे यह शाश्वत सत्य है कि जिसका जन्म होता है उसकी मृत्यु भी होती है। इस यथार्थ का ज्ञान होने पर दुःख नहीं होता है।

स्मृति के कारण

आचार्य चरक ने स्मृति के 8 कारण बताये हैं जो निम्न प्रकार हैं-

(i) निमित्त सेः जैसे कारण को देखकर कार्य का स्मरण होना

(ii) रूप ग्रहण से

(iii) सादृश्यता से

(iv) विपरीत वस्तु को देखने से

(v) मन को स्मरण करने योग्य विषयों में लगाने से

(vi) अभ्यास से

(vii) ज्ञान योग से

(viii) सुने हुऐ विषयों को पुनः सुनने से स्मृति उत्पन्न होती है।

स्मृति में विकृति होने से मानव मस्तिष्क अत्यधिक प्रभावित होता है तथा अनेकशः मानस विकृतियां उत्पन्न होती हैं।

11. धैर्य (Tolerance)

दुखदः एवं विषाद युक्त विपरीत परिस्थितियें में अपने मानसिक संतुलन को बनाये रखना ही धैर्य कहलाता है। मानस स्वास्थ्य को बनाये रखने में धैर्य की अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका होती है। धैर्य धारण करने से व्यक्ति क्रोध, शोक, दीनता, विषाद आदि मनोविकारों से संघर्ष में विजयी होता है एवं जीवन को विषम परिस्थितियों से बाहर ले आने में सफल रहता है।

12. हर्ष (joy)

मानस स्वास्थ्य को और अधिक समुन्नत करने के लिए हर्ष अत्यंत महत्वपूर्ण होता है। हर्ष का ज्ञान व्यक्ति के आभामण्डल से ही हो जाता है। हर्षित व्यक्ति का मुखमण्डल प्रफुल्लित,उल्लासपूर्ण एवं सदैव प्रसन्नचित रहता है। हर्षित व्यक्ति नृत्य, गीत, संगीत, वाद्य इत्यादि क्रियाओं में संलग्न तथा अत्यंत उत्साह से अपने कार्यों में प्रवृत्त होता है। व्यक्ति में सत्व गुण की वृद्धि हो जाती है तथा उसके मानस विकारों में कमी आती है एवं मस्तिष्क में अच्छे भावों का संचार होता है।

13. भ्रांति (confusion)

मिथ्या ज्ञान को भ्रांति कहते हैं। विचार शून्यता अथवा भाव शून्यता के कारण रोगी के मन में कोई गलत अवधारणा स्थापित हो जाती है जिसके फलस्वरूप उसे सदैव हानि पहुंचने का भय बना रहता है। वह मित्र को भी शत्रु समझने लगता है। उसका अपने स्वजनों पर से भी विश्वास उठ जाता है। यह एक अत्यंत गम्भीर मानस विकार है जिसमें रोगी को महत्वपूर्ण चिकित्सकीय सलाह की आवश्यकता होती है। भ्रांति में रोगी के मन की मिथ्या अवधारणा को समाप्त करना सर्वाधिक महत्वपूर्ण होता है।

14. शील (Temperament)

शील तात्पर्य स्वभाव से होता है। स्वभाव भी एक मानस भाव है तथा यह उस व्यक्ति की प्रकृति एवं आस-पास के वातावरण तथा संस्कार पर निर्भर करता है। शील की व्यक्तता अनुराग के रूप में सहज स्वरूप में होती है। शील अथवा स्वभाव के कारण ही व्यक्ति स्वप्रेरित होकर आचरण करता है। व्यक्ति अपने स्वभाव के कारण ही किसी से प्रेम अथवा द्वेष करता है तथा सवयं का नीति निर्धारण करता है।

15. शौच (Physical and Mental Purification of body)

शौच का तात्पर्य शुद्धि से होता है। यह शुद्धि शारीरिक एवं मानसिक होती है। अतः जीवन के शारीरिक एवं मानसिक क्रिया कलाप के प्रत्येक क्षेत्र में शुद्धता का अभ्यास करना शौच कहलाता है। शरीर, वस्त्र, आवास आदि को शुद्ध करना बाह्य

शुद्धि की श्रेणी में आता है। इसी प्रकार अन्न, धन आदि पवित्र वस्तुओं को प्राप्त कर शुद्ध भोजन आदि तप, वैराग्य आदि सुंदर विचारों के द्वारा राग, द्वेष, ईर्ष्या, शोक, क्रोध आदि मानस भावों को नष्ट करना आभ्यांतर शौच कहलाता है। आयुर्वेद में बाह्य शुद्धि के लिए अंग प्रक्षालन, स्नान, दन्तधावन, कवल ग्रह, गण्डूष आदि कर्म बताये गये हैं। आभ्यांतर शुद्धि हेतु धी, धैर्य, स्मृति, समाधि, प्राणायाम एवं योग इत्यादि का व्यवहार करना चाहिए। शौच के समुचित पालन करने से मानस विकार उत्पन्न होते हैं तथा अनेक प्रकार के मानस रोग धीरे-धीरे शांत हो जाते हैं।

VIII. पूर्वजन्म कृत कर्म एवं मानस रोग

आयुर्वेद में कर्म तथा पुनर्जन्म की अवधारणा को मान्यता प्राप्त है। पूर्व जन्म में किये गये शुभ अथवा अशुभ कर्म इस जन्म में अनके रोगों का कारण बनते है। पूर्वजन्म कृत रोगों में मानस रोगों का अधिक महत्व है एवं इनमें दैवव्यपाश्रय चिकित्सा का निर्देश किया गया है। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान भी कुछ मानस रोगी को आनुवांशिक मानता है जो प्रायः असाध्य होते हैं।

IX. पूर्वजन्म कृत कर्म एवं मानस रोग

मानस रोगों के अन्य प्रमुख कारण

मानस रोगों के अधिकांश महत्वपूर्ण कारणों का शास्त्रीय वर्णन ऊपर किया जा चुका है। परंतु निम्नलिखित कारण भी मानस रोगों की उत्पत्ति में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं-

1. वातावरण का मानस स्वास्थ्य पर प्रभाव

शिशु के जन्म से लेकर उसके वयस्क होने तक उसके आस-पास के वातावरण का उस पर गहरा प्रभाव पड़ता है। वह जिस प्रकार के वातावरण, परिवेश तथा सहयोगियों के बीच रहता है, धीरे-धीरे उनके विचारों से प्रभावित होता है।

2. रुचि के अनसार कार्य नहीं मिलना।

3. व्यक्तिगत कठिनाईयां एवं असफलताएं।

4. अत्यधिक संवेदनशील मनःस्थिति वाला व्यक्तित्व होना।

5. कार्य का अत्यधिक दबाव एवं कार्य स्थल का मनोनुकूल नहीं होना।

6. विभिन्न प्रकार की अंतःस्रावी ग्रंथियों की विकृतियां

7. सामाजिक, सांस्कृतिक, शैक्षिक एवं आर्थिक कारण।

8. व्यक्तिगत कारण जैसे उच्च शिक्षा प्राप्ति के बाद भी उचित रोजगार का अभाव, श्रम की अधिकता, आघात इत्यादि कारणों से भी मानस विकार उत्पन्न होते हैं।

मानस रोगों के सामान्य लक्षण

मानस रोगों का सुव्यस्थित लक्षण संहिता ग्रंथों में नहीं मिलता है। वस्तुतः आयुर्वेद में मानस रोगों के अंतर्गत उन्माद, अपस्मार एवं अतत्वभिनिवेश का ही विस्तृत वर्णन मिलता है एवं अन्य मानस भावों का वर्णन संहिताओं में यत्र तत्र विकीर्ण रूप में ही मिलता है। मानस रोगों में सामान्य रूप से मिलने वाले लक्षण निम्न प्रकार हैं-

1. भय मानस रोगी प्रायः अत्यंत भय ग्रस्त रहता है

2. सन्त्रास अथवा घुटन

3. असहिष्णुता

4. मनःक्षोभ

5. अव्यवस्थित चित्तता-अनियन्त्रित वाणी का प्रयोग

6. अनेक प्रकार की भावभंगिमाओं का प्रदर्शन करना। जैसे अनवरत हास-परिहास, नृत्य, वादन, गायन, रुदन, चिल्लना इत्यादि अनेक प्रकार के अवांछित कार्य व्यवहार करना

7. अनेक प्रकार के मानस भावों की उत्पत्ति जैसे शोक, क्रोध, ईर्ष्या, मान, द्वेष, काम, लोभ, मोह, मद चिन्ता, उद्वेग इत्यादि

8. भाव विभ्रंशता जैसे मनौविभ्रंश, बुद्धि, विभ्रंश, संज्ञाविभ्रंश, ज्ञान विभ्रंश, स्मृति विभ्रंश, भक्ति विभ्रंश, शील विभ्रंश, चेष्टा विभ्रंश एवं आचार विभ्रंश इत्यादि अनेक प्रकार के मनोविकार उत्पन्न होते है।

9. जीवन से पलायन की भावना

10. भ्रम

11. विभ्रम

12. अनेक प्रकार की मानस विकृतियों की उत्पत्ति

मानस रोगों के सामान्य चिकित्सा सिद्धांत

आचार्य सुश्रुत ने दोष, धातु, मल, अग्नि, आत्मा तथा इन्द्रियों की प्रसन्नता को स्वास्थ्य एवं आरोग्य का मूल कहा है। आयुर्वेद में दोषों की साम्यावस्था को आरोग्य तथा दोष वैषम्यता को व्याधि माना गया है। तीन शारीरिक दोष, दो मानस ोष, सात धातुओं एवं मलों की साम्यावस्था आरोग्य अथवा सुख है एवं इनकी विषमावस्था दुःख अथवा व्याधि है। इस प्रकार चिकित्सा का मुख्य उद्देश्य धातुओं में साम्यावस्था लाना है।

मानस एवं शारीरिक व्याधियों की चिकित्सा को तीन वर्गों के अंतर्गत वर्णित किया गया है जो निम्न प्रकार है[2]-

1. दैव व्यपाश्रय चिकित्सा

2. युक्ति व्यपाश्रय चिकित्सा

3. सत्वावजय चिकित्सा

1. दैव व्यपाश्रय चिकित्सा

दैव व्यपाश्रय चिकित्सा एक प्राचीन चिकित्सा पद्धति है। अथर्ववेद एवं कौशिक सूत्र दैव व्यपाश्रय चिकित्सा के मुख्य स्रोत है। आचार्य चरक के अनुसार पूर्व जन्म कृत कर्मों से ही भाग्य अथवा दैव का निर्माण होता है[3] वर्तमान जन्म के कर्मों को 'पुरुषकर' कहते हैं। दैव एवं पुरुषकर कर्मों पर ही जीवन आधारित है। आचार्य चरक के अनुसार दैवकृत व्याधियों को पुरुषकर कर्मों से कम किया जा सकता है।

दैव व्यापाश्रय चिकित्सा की विधियां निम्न प्रकार हैं

(i) ईश्वर के मंत्र का पुनःपुनः जप करना

(ii) व्याधिनाशक औषधियों एवं मणियों को धारण करना

(iii) मंगल एवं कल्याणकारी पूजा पाठ करना

(iv) देवताओं को उनके प्रिय पदार्थ का भोग लगाना एवं बलि चढ़ाना

(v) घृत, तैल, यव, शर्करा एवं शुष्क फलों जैसे नारियल इत्यादि की आहुति देना जिससे वातावरण शुद्ध एवं पवित्र हो जाता है

(vi) नियम अर्थात् पातञ्जल योग सूत्र में वर्णित शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय एवं ईश्वर प्रणिधान का समुचित रूप में पालन करना

(vii) प्रायश्चित करना

(viii) उपवास

(ix) स्वस्त्ययेन (वेदोक्त कर्म का समुचित पालन)

(x) प्रणिघात (देवता, गुरु, द्विज, गौ आदि पूज्यों के सामने साष्टांग प्रणाम तथा विनम्रता का व्यवहार करना)

(xi) तीर्थ गमन अर्थात् विभिन्न धार्मिक स्थलों का भ्रमण करना एवं पुण्य अर्जित करना

2. युक्ति व्यपाश्रय चिकित्सा

युक्ति व्यपाश्रय चिकित्सा वातादि दोषों के प्रतिकार के लिए प्रयुक्त की जाती है। इसके अंतर्गत दो प्रकार की योजना के अनुसार चिकित्सा करते हैं जो निम्नलिखित है-

(i) आहार का निर्धारण।

(ii) औषधि की योजना तैयार कर प्रयुक्त करना।

युक्ति व्यपाश्रय चिकित्सा मानस एवं शारीरिक व्याधियों को दूर करने के लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण होती है। युक्ति व्यपाश्रय चिकित्सा के अंतर्गत तीन तरह के कर्मों का प्रयोग किया जाता है[2] -

(i) अंतः परिमार्जन

(ii) बहि परिमार्जन

(iii) शस्त्र प्रणिधान

(iv) अंतः परिमार्जन चिकित्सा

अंतः परिमार्जन चिकित्सा के अंतर्गत दो प्रकार से चिकित्सा की जाती है जो निम्नलिखित हैं-

(अ) संशोधन चिकित्सा

(ब) संशयन चिकित्सा

(अ) संशोधन चिकित्सा

संशोधन चिकित्सा के अंतर्गत मुख्यतः पंचकर्म का प्रयोग किया जाता है। आवश्यकता के अनुसार वमन, विरेचन, अनुवासन बस्ति, आस्थापन अस्ति, शिरोविरेचन (नस्य) का युक्ति पूर्वक प्रयोग किया जाता है। वात दोष का प्रकोप होने पर सर्व प्रथम स्नेहन का प्रयोग करना चाहिए। इसी प्रकार स्रोतावरोध की स्थिति में स्नेहन के साथ मृदु संशोधन भी प्रयुक्त किया जाना चाहिए। कफज एवं पित्तज दोषों की प्रबलता की स्थिति में वमन एवं विरेचन का प्रयोग करना चाहिए। तदुपरान्त निरुह, अनुवासन अथवा नस्य कर्म का यथोचित प्रयोग करना चाहिये। यदि आवश्यकता हो तो शिरोधारा, शिरोबस्ति इत्यादि केरलोय पंचकर्म विधियों का प्रयोग भी मानस रोग चिकित्सा में सफलतापूर्वक किया जा सकता है।

एकल औषधियां

(i) ब्रह्मी
(ii) वचा
(iii) कुष्माण्ड
(iv) ज्योतिष्मती
(v) अश्वगंधा
(vi) शंखपुष्पी
(vii) आमलकी
(viii) एरण्ड
(ix) जटामांसी
(x) बला इत्यादि

उपरोक्त औषधियों की युक्तियुक्त योजना से मानस रोगों में अत्यंत लाभ मिलता है। मानस रोग चिकित्सा में निरामिष, मद्य रहित आहार द्रव्य एवं मनोनुकूल, स्वच्छ, मनोरम, रमणीय स्थलों पर विहार करना चाहिये।

(ii) बहिः परिमार्जन चिकित्सा

बहिः परिमार्जन चिकित्सा के अंतर्गत अनेक प्रकार के औषधियुक्त तैल एवं अन्य औषधि योगों का बाह्य प्रयोग किया जाता है। बाह्य परिमार्जन के अंतर्गत अभ्यंग, प्रलेप, उद्वर्तन, उद्घर्षण,अवगाहन, स्नेहन, स्वेदन आदि क्रियाओं का प्रयोग किया जाता है।

अनेक प्रकार के अगद का प्रयोग भी नस्य, अञ्जन, स्नान एवं अभ्यंग के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। इसी प्रकार अनेक प्रकार के धूमवर्ती इत्यादि का प्रयोग भी किया जाता है।

मानस रोगों में बहिःपरिमार्जन चिकित्सा के अंतर्गत व्यायाम का प्रयोग भी कराया जा सकता है। मुख्यतः अवसाद पीड़ित रोगियों में व्यायाम, प्राणायाम, ध्यान में आशातीत सफलता प्राप्त होती है।

(iii) शस्त्र प्रणिधान

अनेक मानस रोगों में छेदन, भेदन, व्यधन दारण, पाटन, प्रच्छान, सीवन एवं वषण इत्यादि कर्मों के प्रयोग का शास्त्रीय निर्देश प्राप्त होता है। जैसे उन्माद रोग में सीमन्त को शिरा का वैधन, अपस्मार में हनुसंधि के मध्य की शिरा का वेधन इत्यादि का वर्णन प्राप्त होता है।

3. सत्वांवजय चिकित्सा

सत्वावजय मुख्यतः मानस रोगों में प्रयुक्त होने वाली एक विशेष चिकित्सा विधि है जिसमें रोगी के मन को अहितकर विषयों (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध, ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध एवं मोह इत्यादि) से हटाकर हितकर कार्यों के प्रति आकृष्ट किया जाता है[1] वस्तुत मानस रोगों की चिकित्सा में धी, धैर्य, स्मृति एवं समाधि इत्यादि का प्रयोग किया जाता है। सत्वांवजय चिकित्सा में प्रयुक्त कुछ प्रमुख उपाय निम्नलिखित है-

1. धी, धैर्य, स्मृति, ज्ञान, विज्ञान आदि द्वारा सत्वावजय चिकित्सा।
2. मनोनिग्रह के लिये अष्टांग योग जैसे यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधि का समुचित एवं व्यवहारिक प्रयोग।

3. समुचित अष्टाहार विधि विशेषायतन एवं द्वादशासन के निर्धारित विधियों के अनुसार आहार ग्रहण करना।
4. समाज में एक समान दृष्टि रखते हुए आर्तजनों की सेवा करना, उनके प्रति करुणा की भावना रखना एवं उपेक्षित लोगों में प्रसन्नता एवं दया की भावना का प्रसार करना।
5. किसी का अपमान नहीं करते हुए सम्यक् दृष्टि से सभी के प्रति सद्व्यवहार करना।
6. किसी व्यक्ति को किसी प्रियजन अथवा प्रिय वस्तु की हानि से क्षोभ होकर व्याधि उत्पन्न हो जाने पर उसे अभिलषित वस्तु अथवा आश्वासन देकर उनकी सत्वावजय चिकित्सा करनी चाहिए।
7. मंगल आचरण, उत्साह, क्षमा, दया, मितभाषिता, अतिथि पूजन, धर्मात्मा एवं बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय की भावना के द्वारा सत्वावजय चिकित्सा करनी चाहिऐ।

इस प्रकार उपरोक्त चिकित्सा विधियों की सहायता से समस्त मानस रोगों की युक्तियुक्त चिकित्सा की जा सकती है। (प्रो. अजय कुमार शर्मा)

भ्रातृप्रेम (भाईचारा), विश्व बन्धुत्व की समीक्षा

(धर्म रहित भ्राता भी शत्रु, धर्म सहित पशु भी मित्र!)

(केवल नारे से न सम्भव विश्व बन्धुत्व व भातृप्रेम!?)

(भातृ प्रेम व विश्वबन्धुत्व व्यक्तिगत भावनात्मक सम्भव किन्तु वैश्विक अभी तक तो असम्भव आगे...!?)

चालः- 1. छोटी-छोटी गैया ....2. तुम दिल की....

यदि न होता धर्म चित्त में, भ्राता-भ्राता भी न होते मित्र।
यदि होता धर्म चित्त में, क्रूर पशु भी बन जाते मित्र।।
विश्व बन्धुत्व या भाईचारा, होता जिसके चित्त में धर्म।
अन्यथा विश्व का बने अमित्र, भाई-भाई होते परम शत्रु।।(1)...
विश्व इतिहास है साक्ष्य इसका, वर्तमान भी साक्ष्य इसका।

आगे भी ऐसा ही होता रहेगा, जब तक धर्म-अधर्म का अस्तित्व होगा।।
मानव तिर्यञ्च व नारकियों में, शत्रुता करते वे परस्पर में।
स्वजाति वाले भी होते परम शत्रु, स्व जाति भक्षक तक होते मानव-पशु(2)

भरत-बाहुबली में हुआ परस्पर युद्ध, कौरव-पाण्डव में हुआ युद्ध।
व्यक्ति-व्यक्ति से ले राष्ट्र तक में, गृह युद्ध होते आ रहे पूर्व से।।
केवल न होते भाई-भाई शत्रु, पिता, माता, भ्राता, भगिनी भी शत्रु।
शिशु शार्क गर्भ में खाते परस्पर, तस्मानिया डेबिड तथाहि क्रूर।। (3)...

सत्ता सम्पत्ति वालों में भी होता अधिक, वनस्पति, कीट, पतंग भी प्रवृत्त।
वेम्पायर मानव अन्य के रक्त भी पीते, शोषक शोषित शिकार-शिकारी होते
चित्त जब होता धर्म से ओतप्रोत, जीव मानते हैं परस्पर मित्र।
समवसरण एक उत्कृष्ट उदाहरण, मानव-पशु-देव सभी होते मित्र।। (4)

धर्म रक्षति रक्षित अतएव कहा, धर्मेण हन्ति हन्त अतः कहा।
अहिंसा, सत्य, शान्ति, शुचिता धर्म, इनसे रिक्त होता है अधर्म।।...
रागद्वेष मोह काम क्रोध अधर्म, ईर्ष्या तृष्णा घृणा होती अधर्म।
दया दान सेवा परोपकार है धर्म, इन सबसे रिक्त होत अधर्म।। (5)

इनसे रिक्त केवल बाह्य सम्बन्ध, मित्रता हेतु नहीं होता निमित्त।
तथाहि जाति, कुल वंश, राष्ट्रभाषा, मित्रता हेतु नहीं होते निमित्त।।
तथाहि शिक्षा, राजनीति, सम्विधान, नीति, नियम, परम्परा, कानून।
अपर्याप्त है मित्रता हेतु सुज्ञेय, संकीर्ण, कट्टर, क्रूर धर्म तो सर्वथा हेय।।(6)

विश्वबन्धुत्व न हुआ सम्भव, राष्ट-राष्ट्र परस्पर युद्ध में रत।
जाति, पन्थ, मत, भाषा, काला गोरा, राजनीतिज्ञ, राजनीति दल युद्धरत।।
सर्वजीव से मैत्री भाव गुणी से प्रमोद, दुःखी जीव से करुणा भाव सहित।
विपरीत वृत्ति वालों से साम्यभाव, इससे सम्भव भातृप्रेम-विश्व बन्धुत्व।।(7)

केवल नारे, उपदेश या पर्व, उत्सव से, सम्भव नहीं केवल दिखावा मात्र से।
समता, शान्ति, समन्वय उदारता से, ये सर्व सम्भव आध्यात्मिकभाव से।।
आगम, अनुभव से लिखा ये सत्य, वैज्ञानिक इतिहास चैनल से जाना तथ्य।
भातृप्रेम का श्रेष्ठ आदर्श भरत, लक्ष्मण, विश्वबन्धुत्व चाहे 'सूरी कनक'।।(8)

संदर्भ

धर्मो वसन्मनसि यावदलं स ताव
द्वन्ता न हन्तुरपि पश्य गतेऽथ तस्मिन्।
दृष्टा परस्पर हतिर्जन कात्मजानां,
रक्षा तोऽस्य जगतः खलु धर्म एव ।। (26) आत्मानुशासन

देखो, जब तक वह धर्म मन में अतिशय निवास करता है तब तक प्राणी अपने मारने वाले का भी घात नहीं करता है। और जब वह धर्म मन में से निकल जाता है तब पिता और पुत्र का भी परस्पर में घात देखा जाता है। इसलिए इस विश्व की रक्षा उस धर्म के रहने पर ही हो सकती है।

पिता पुत्रं पुत्रः पितरमभिसंधाय बहुधा,
विमोहादीहेते सुखलवमवाप्तुं नृपपदम्।।
अहो मुग्धो लोको, मृतिजननदंष्ट्रान्तर गतो,
न पश्यत्यश्रान्त तनुमपहरन्तं यममुम्।। (34)

पिता-पुत्र को तथा पुत्र-पिता को धोखा देकर प्रायः वे दोनों ही मोह के वश होकर अल्प सुख वाले राजा के पद (सम्पत्ति) को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करते हैं। परन्तु आश्चर्य है कि मरण व जन्म रूप दाढ़ों, के बीच में प्राप्त हुआ यह मूर्ख प्राणी निरन्तर शरीर को नष्ट करने वाले उस उद्यत यम को नहीं देखता है।

शरणमशरणं वो बान्धवो बन्धमूलं,
चिरपरिचितदारा द्वारमापदग्रहाणाम्।
विपरिमृशत पुत्राः शत्रवः सर्वमेतत्।
त्यजत भजत धर्मं निर्मलं शर्मकामाः।। (60)

हे भव्य जीवों! जिसे तुम शरण (गृह) मानते हो वह तुम्हारा शरण (रक्षक) नहीं है, जो बन्धुजन हैं वे रागद्वेष के निमित्त होने से बन्ध के कारण हैं, दीर्घकाल से परिचय में आई हुई स्त्री आपत्तियों रूप गृहों के द्वार के समान है, तथा जो पुत्र हैं वे अतिशय रागद्वेष के कारण होने से शत्रु के समान है; ऐसा विचार कर यदि आप लोगों को सुख की अभिलाषा है तो इन सबको छोड़कर निर्मल धर्म की आराधना करें।

यांति न्यायप्रवृत्तस्य तिर्यंचोऽपि सहायतां।
अपंथानं तु गच्छन्तं सोदरोऽपि विमुञ्चति।। (2) सा. धर्मा.

न्याय मार्ग पर चलने वाले पुरुषों को तिर्यञ्च भी सहायता करता है और अन्यायपूर्वक प्रवृत्ति करने वालों का साथ अपना सगा भाई भी छोड़ देता है।

आज न्यायालय अन्यायालय है और न्यायाधीश अन्यायाधीश है। आज अधिकांश व्यक्ति किसी प्रकार दुर्घटना होने पर या कोई समस्या उत्पन्न होने पर न्याय प्राप्त करने के लिए न्यायालय में जाने से कतराते हैं। न्यायालय में जाना माने आर्थिक रूप से, शारीरिक रूप से, समय से एवं मानसिक रूप से शोषित हो जाना है, खोखला हो जाना है। वकील, न्यायाधीश आदि न्याय के नाम पर अन्याय को बढ़ावा देने वाले, अन्याय को पोषण करने वाले होते हैं। उनकी युक्ति, उनका न्याय उसे मिलता है जो उन्हें अधिक धन देते हों या स्वयं के स्नेह भाजन हों। परन्तु न्याय तो ''न्यायानुवर्तिनां युक्त, नहि स्नेहानु वर्तना'' अर्थात् न्याय के अनुसार सत्य के अनुसार युक्ति होनी चाहिए; निर्णय होना चाहिये न कि धन के अथवा जन के स्नेह से या प्रेम से या लोभ से।

समाज को स्वस्थ, समृद्ध बनाने के लिये भी सामाजिक नेता होते हैं। वे ऐसे कार्य करते हैं और ऐसा आदर्श प्रस्तुत करते हैं जिससे समाज समुन्नत होता है। परन्तु अधिकांश नेता कुछ संघ, संगठन, समिति, संस्था बना करके उसके मालिक बन जाते हैं और समाज से नैतिक एवं अनैतिक रूप से, प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से धन शोषण करने लगते हैं। इतना ही नहीं, जिस उद्देश्य से सामाजिक नेता बने या संघादि के कार्यकर्त्ता बने उस उद्देश्य से विपरीत चलते हैं। संस्थादि के माध्यम से समाज में फूट डालते हैं, झगड़ा कलह करवाते हैं, एक दूसरे को नीचा दिखाते हैं। इसी प्रकार धार्मिक नेता, धार्मिक ठेकेदार भी धर्म नाम पर दूसरे को ठगते हैं, धार्मिक सम्पत्ति को हड़प लेते हैं और धर्म के नाम पर भेदभाव करते हैं एवं करवाते हैं। संक्षिप्ततः प्रायः हर नेताओं का स्वभाव झगडालु तानाशाही, ईर्ष्यालु, छिद्र अन्वेषणकारी, विघटनकारी, आलसी, परोपजीवी, शोषणकारी पाया जाता है। उपरोक्त दुर्गुण को त्याग करके ही नेता स्व एवं परोपकारी बन सकते हैं।

विश्व शान्ति के विविध आयाम

बिन्दुओं का समूह ही सिन्धु है। यदि प्रत्येक जल बिन्दु का स्वाद लवणाक्त है तो उससे जो सिन्धु बनेगा उस सिन्धु का भी स्वाद लवणाक्त ही होगा। यदि प्रत्येक व्यक्ति शान्त, सभ्य, अच्छा होगा तो उससे जो समाज बनेगा वह भी शान्त, सभ्य, अच्छा ही होगा। जिस प्रकार शुद्ध सुवर्ण से बनने वाले अलंकार भी शुद्ध ही होंगे। समाज अच्छा होगा तो राष्ट्र भी अच्छा होगा। प्रत्येक राष्ट्र अच्छा होगा तो मण्डल तथा विश्व भी अच्छा होगा। अतः विश्व शान्ति के पहले व्यक्ति-शान्ति समाज शांति, राष्ट्र की शांति नितान्त आवश्यक है। अतएव विश्व शांति का शुभारंभ व्यक्ति शान्ति से तथा निर्माण का मंगलाचरण व्यक्ति निर्माण से करना चाहिए।

जब तक बिन्दु सिन्धु में रहती है तब तक बिन्दु प्रखर सूर्य किरण से भी शीघ्रता से सूखती नहीं है परन्तु वही बिन्दु जब सिन्धु से अलग हो जाती है तब मन्द सूर्य-किरण से भी शीर्घता से सूख जाती है। इसलिए विश्व की शान्ति का अर्थ है विश्व के प्रत्येक जीव की शान्ति। अतः आत्म-शान्तिकामा को भी विश्व की शांति की कामना करनी चाहिये तथैव विश्वशांतिकामा को भी आत्मा शान्ति के कार्य करना चाहिए। आत्मशान्ति तथा विश्वशान्ति परस्पर अनुपूरक परिपूरक हैं। अतएव आत्म-शान्ति के लिए महान् व्यक्ति विश्व-शान्ति की भावना भाते हैं यथा-

अयं निजः परो वेत्ति भावना लघुचेतसाम्।
उदार पुरुषाणां तु वसुधैव स्व-कुटुम्बकम्।।

क्षुद्र, संकुचित भावना युक्त व्यक्ति में अपना-पराया का निकृष्ट भेद-भाव रहता है, परन्तु उदारमना सम्पूर्ण विश्व को अपना परिवार मानता है, जिससे विश्व के प्रत्येक जीव को अपने परिवार का एक सदस्य मानकर सबके साथ, प्रेम, मैत्री, उदारता, समता का व्यवहार करता है। इसको ही विश्व बन्धुत्व, सर्वभूतात्मभूत कहते हैं। यह है धर्म का सार, अहिंसा का आधार, विश्व शान्ति का अमोघ उपाय।

जीव जिणवर जे मुणहि जिणवर जीव मुणहि।
ते समभाव परट्ठिया लहुणिव्वाणं लहइ।।

जो जीव को जिनवर एवं जिनवर को जीव मानता है, वह परम साम्य भाव

में स्थित होकर अतिशीघ्र निर्वाण पद को प्राप्त करता है। यह है सर्वोत्कृष्ट, साम्यवाद, गणतन्त्रवाद, समाजवाद, लोकतन्त्रवाद।

प्राणा यथात्मनोऽभीष्टाः भूतानामपि ते तथा।
आत्मौपम्येन मन्तव्यं बुद्धिमद्भिर्महात्माभिः।। महाभारत

जैसे मानव को अपने प्राण प्यारे हैं, उसी प्रकार सभी प्राणियों को अपने-अपने प्राण प्यारे हैं। इसलिये जो लोग बुद्धिमान और पुण्यशाली हैं, उन्हें चाहिए कि वे सभी प्राणियों को अपने समान समझें।

यथा अहं तथा एते, यथा एते तथा अहं।
अत्तानं उपमं कत्वा, न हनेय्य न घातये।। सुत निपात

जैसा मैं हूँ वैसे ये हैं तथा जैसे ये हैं वैसा मैं हूँ- इस प्रकार आत्म सदृश्य मानकर न किसी का घात करें न करायें।

सव्वे तसन्ति दण्डस्य, सव्वेसिं जीवितं पियं।
अत्तानं उपमं कत्वा न हनेय्य न घातये।। (धम्मपद)

सब लोग दण्ड से डरते हैं, मृत्यु से भय खाते हैं। दूसरों को अपनी तरह जानकर न तो किसी को मारे और न किसी को मारने की प्रेरणा करें।

सो न हन्ति न घातेति, न जिनाति न जायते।
मित्तं सो सव्वभूतेसु वेरं तस्स न केनचीत्।। (इतिबुत्तक)

जो न स्वयं किसी का घात करता है, न दूसरों से करवाता है, न स्वयं किसी को जीतता है, न दूसरों को जितवाता है, वह सर्वप्राणियों का मित्र होता है, उसका किसी के साथ बैर नहीं होता।

आत्मनःप्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।- मनुस्मृति

जो कार्य तुम्हे पसन्द नहीं है, उसे दूसरों के लिये कभी मत करो।

सत्त्वेषु, मैत्री गुणिषु प्रमोदम्।।
क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।।
माध्यस्थभावं विपरीत वृतौ।
सदा ममात्मा विदधातु देव। (भा.द्वा.)

हे भगवान्! मेरा प्रत्येक जीव के प्रति मैत्री भाव रहें, गुणीजनों में प्रमोद भाव रहें, दुःखीजनों के लिए करूणाभाव रहें, दुर्जनों के प्रति मेरा माध्यस्थ भाव (साम्यभाव) रहें।

कुरान में विभिन्न स्थानों पर अहिंसा, विश्व-शान्ति की शिक्षा दी गयी है। 'सूरः मायदा' में हजरत अली के दो पुत्रों का वर्णन करते हुए, जिनमें एक ने दूसरे की नाहक हत्या की थी अल्लाह का कथन है-

''इसी कारणवश हमने बनी इसराईल को यह लिखकर दे दिया कि जो कोई किसी मनुष्य की हत्या करे, बिना इसके कि उसने किसी की हत्या की हो या पृथ्वी पर उपद्रव किया हो तो मानो उसने सभी मनुष्यों की हत्या की और जिसने किसी के जीवन की रक्षा की हो तो मानो उसने सभी मनुष्यों के जीवन की रक्षा की।'(सूरः मायदा आयत-32 क)

एक और स्थान पर अल्लाह कहता है कि :-

'ऐ मोहम्मद सल्लल्लाहो तआला अलैहे वसल्लम लोगों से कह दो कि जाओ मैं तुम को बताऊँ कि अल्लाह ने तुम पर क्या हराम किया है, तुम्हारा कर्त्तव्य है कि अल्लाह के साथ किसी को भागीदार(शरीक) मत बनाओ, माता-पिता के साथ सद्व्यवहार करो। अपनी औलाद की दरिद्रता के भय से हत्या न करो, हम जहाँ तुमको जीविका देते हैं वहाँ उनको भी देंगे, बदकारी (दुष्कर्म) के पास भी मत जाओ, चाहे वह छुपी हुई हो या खुली हुई।'(सूरः इनाम, आयत 151)

इस्लाम धर्म के पैगम्बर हजरत मोहम्मद सल्लल्लाहो अलैसे वसल्लम भी मानवीय जीवन का इतना अधिक सम्मान करते थे कि उनमें अपने पराये का अन्तर भी न था। एक बार एक यहूदी की अर्थी उनके सामने से जा रही थी, तो वह उसके सम्मान में खड़े हो गये थे। उनके एक साथी ने कहा कि यह तो मुसलमान नहीं था। उन्होंने फरमाया कि क्या वह मनुष्य न था अर्थात् मानव का आदर आवश्यक है। वह मुसलमान हो या न हो।

'आत्मवपरत्र कुशल वृत्ति चिन्तनं शक्तितस्त्याग तपसी च धर्माधिगमोपयाः।' (नीतिवाक्यामृत)

अपने ही समान दूसरे प्राणियों का हित (कल्याण) - चिंतवन करना, शक्ति के अनुसार पात्रों को दान देना और तपश्चरण करना ये धर्म प्राप्ति के उपाय हैं।

''सर्व सत्वेषु हि समता सर्वा चरणानां परमं चरणम्''(5)

समस्त प्राणियों में समता भाव रखना अर्थात् उनकी रक्षा करना सभी सत्कर्त्तव्यों में सर्वोत्तम कर्त्तव्य है।

''सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुःख माप्नुयात्।।''

सम्पूर्ण जीव जगत् सुखी, निरोगी, भद्र, विनयी सदाचारी रहें। कोई भी कभी थी थोड़े भी दुःख को प्राप्त न करें।

शिवमस्तु सर्वज्ञगतः परहित निरता भवन्तु भूतगणाः।
दोषा प्रयान्तु नाशं, सर्वत्र सूखी भवतु लोकः।।

सम्पूर्ण विश्व मंगलमय हो, जीव समूह परहित में निरत रहें सम्पूर्ण दोष विनाश को प्राप्त हो जावें, लोक में सदा सर्वदा सम्पूर्ण प्रकार से सुखी रहें।

मा कार्षीति कोऽपि पापानि, मा च भूत कोपिदुःखितः।
मुच्यतां जगदप्येषां, मति मैत्री निगद्यते।।

कोई भी पाप कार्य को न करें, कोई भी दुःखी न रहे, जगत् दुःख कष्ट वैरत्व से रहित हो जावें इसी प्रकार की भावना को मैत्री भावना कहते हैं।

कायेन, मनसा वाचा सर्वेष्वपि च देहिषु।
अदुःख जननी वृत्ति मैत्री, मैत्रीविदां मता।।

काय-मन, वचन से सम्पूर्ण जीवों के प्रति ऐसा व्यवहार करना जिससे दूसरों को कष्ट न पहुँचे इसी प्रकार के व्यवहार को मैत्री व्यवहार कहते हैं।

पूज्यवाद स्वामी ने भी विश्व कल्याण के लिये जो भावना के सूत्र दिए हैं वे निम्न प्रकार हैं-

क्षेमं सर्वप्रजानां प्रभवतु बलवान्धार्मिको भूमिपालः।
काले-काले च सम्यग् वितरतु मघवा व्याधयो यान्तु नाशम्।
दुर्भिक्षं चौरमारिः क्षणमपि जगतां मा स्म भूज्जीवलोके।

जैनेन्द्रं धर्मचक्रं प्रभवतु सततं सर्वसौख्य प्रदायि(15)

सम्पूर्ण प्रजा क्षेम, कुशल होवें, धार्मिक राजा (नेता) शक्ति सम्पन्न होवें, समय-समय पर इन्द्रदेव (बादल) सुवृष्टि करें, रोग नाश को प्राप्त होवें, दुर्भिक्ष, चोरी, डकैती, आतंकवाद, दुःख, कलह, अशान्ति एक क्षण के लिए भी इस जीव जगत् में न रहें। सब जीवों को सुख प्रदान करने वाले जिनेन्द्र भगवान् का धर्मचक्र (क्षमा, अहिंसा, दया, सत्य, मैत्री, संगठन आदि) सतत प्रवर्तमान रहें।

उपनिषद में भी किसी जीव के प्रति घृणा न करके प्रेम करने के लिए कहा गया है:-

यस्तु सर्वाणि भूतानि, आत्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं, ततो न विजुगुप्सते।।

जो अन्तर्निरीक्षण के द्वारा सब भूतों (प्राणियों) को अपनी आत्मा में ही देखता है और अपनी आत्मा को सब भूतों में, वह फिर किसी से घृणा नहीं करता है।

इदं फलमियं क्रिया करणमेतदेषक्रमो,
व्ययोऽयमनुशङ्गजं फलमिदं दशैषा मम।
अयं सहृदयं द्विषत्प्रयतदेशकालविभा-
विति प्रतिवितर्कयन् प्रयतते बुधो नेतरः।। स.घ.

यह इस कार्य का फल है, यह इसकी क्रिया है, यह इसका साधन है, यह क्रम है, इतना इसमें खर्च है, यह इस कार्य से होने वाला लाभ है, यह मेरी अवस्था है, यह मेरा मित्र है, यह मेरा शत्रु है और यह देश है, क्षेत्र है, यह काल है, इस प्रकार का विचार करके कार्य में प्रवृत्ति विद्वान् ही करते हैं, मूर्ख लोग नहीं कर सकते। अर्थात् हेयोपदेय का विचार ज्ञानी को ही होता है।

प्रत्यहं प्रत्यवेक्षेत तरश्चरितमात्मनः।
किन्नु मे पशुभिस्तुल्यं किन्नु सत्पुरुषैरिति।।

मनुष्यों को हमेशा अपने आचरित कार्यों का अवलोकन करना चाहिये और फिर विचार करना चाहिये कि आज मैंने कोन-कौन से कार्य पशु के समान किये और कौन-कौन से कार्य मनुष्य के समान किये। इस प्रकार हिताहित का विचार करने वाले को प्राज्ञ कहते हैं।

कृतज्ञः- दूसरों के द्वारा किये हुये उपकार को मानता है, कृतघ्न नहीं बनता है, उपकार को नहीं भूलता है वह कृतज्ञ कहलाता है। सज्जन पुरुष पहिले तो किसी से उपकार कराते नहीं और यदि कोई उपकार करते तो उसका उपकार कभी भूलते नहीं हैं। कृतज्ञता यह महान् गुण है इससे सम्पूर्ण कार्यों की सिद्धि होती है, जगत् को वश में करने के लिये यह अमोघमंत्र है।

विधित्सुरेनं तदिहात्मवश्यं, कृतज्ञतायाः समुपैहि पारं।
गुणैरुपेतोऽप्यखिलैः कृतघ्नः, समस्तमुद्वेजयते हि लोकं।।

यदि तुम सम्पूर्ण जगत् को अपने वश में करना चाहते हो तो प्रथम कृतज्ञता की सीमा को प्राप्त हो अर्थात् कृतज्ञ बनो। क्योंकि सम्पूर्ण गुणों से युक्त होने पर भी कृतघ्नी समस्त जगत् को उद्वेजित करता है, पीड़ित करता है। इसलिये कृतज्ञता भी श्रावक धर्म में प्रधान गुण है।

वशी-जो इष्ट पदार्थों में आसक्ति न करता हुआ और विरुद्ध पदार्थों में प्रवृत्ति न करता हुआ, बाह्य में स्पर्शनादि पंचेन्द्रिय विषयों के विकार का और अंतरंग काम, क्रोध, मद, मोह, लोभादि शत्रुओं का निरोध करते हैं अर्थात् उन पर विजय प्राप्त करते हैं उनको वशी कहते हैं। जो बाह्य में पंचेन्द्रिय के विषयों को रोकने के साथ में काम क्रोधादि अंतरंग विकारों को भी रोकता है वही वस्तुतः वशी कहलाता है, केवल ख्याति, पूजा, लाभादिक के निमित्त इन्द्रियों के विषयों को रोकने वाला वश नहीं है। पंचेन्द्रिय सम्बन्धी विषयनिग्रह तथा काम क्रोधादिक का निग्रह करने वाला ही श्रावकधर्म धारण कर सकता है। इनके वशीभूत होने वाला श्रावकधर्म का पालन नहीं कर सकता है। इसलिये वशी (इन्द्रियों को वश में करना) होना भी श्रावक का गुण है।

धर्मविधि को सुनने वाला-धर्म का कारण धर्मविधि है अर्थात् मोक्ष और स्वर्गादि सुख के कारण को धर्मविधि कहते हैं और युक्ति आगम से सिद्ध धर्म के स्वरूप को जो प्रतिदिन सुनता है उसको धर्म की विधि सुनने वाला कहते है। धर्म की विधि के सुनने का अधिकारी कौन है? उसका वर्णन आत्मानुशासन में लिखा है।

भव्यः किं कुशलं ममेति विमृशन्दुःखाद्भृशं भीतवान,
सौख्येषी श्रवणादिबुद्धिविभवः श्रुत्वा विचार्य स्फुटम्।

धर्म कार्यकरं दयागुणमयं, युक्त्यागमाभ्यां स्थितं,
गृह्णन्धर्मकथाश्रुतावधिकृतः शास्यो निरस्ताग्रहः।।

जो भव्य हो, कौन से कार्य में मेरा कल्याण होगा, इस बात का अर्थात् अपने हित का विचार करनेवाला हो, दुःखों से अत्यन्त डरने वाला हो, सुख को चाहने वाला हो, श्रोतापने के गुणों से युक्त हो, अर्थात् शास्त्रों के सुनने आदि में उत्तम बुद्धि रखने वाला हो युक्ति तथा आगम से सिद्ध और सुख को करने वाले ऐसे दया गुणमयी धर्म को सुन करके तथा अच्छी तरह से विचार करके उसको ग्रहण करने वाला हो और जो दुराग्रह से रहित हो वही शिष्य पुरुष ही धर्मकथा सुनने का अधिकारी माना गया है।

दयालुः- दुःखी प्राणियों के दुःख नाश करने की इच्छा को दया कहते हैं। और जिनके परिणामों में दया हो, अर्थात् जो दया युक्त हो, उसको दयालु कहते हैं। 'धर्मस्य मूलं दया' ऐसा शास्त्र वचन है। इसलिये दया को अवश्य स्वीकार करना चाहिये।

प्राणा यथाऽऽत्मनोऽभीष्टा भूतानामपि ते तथा।
आत्मौपम्येन भूतानां दयां कुर्वीत मानवः।।

जिस प्रकार तुमको अपना प्राण प्रिय है उसी प्रकार सम्पूर्ण जीवों को भी अपने-अपने प्राण प्रिय है, इसलिये मनुष्यों को अपने समान ही सम्पूर्ण प्राणियों पर दया करनी चाहिये।

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत।।

धर्म के सार को सुनो तथा सुनकर उन पर विचार करो। क्योंकि सम्पूर्ण धर्म का सार यही है कि जो कार्य अपने प्रतिकूल हैं उन कार्यों को दूसरों के प्रति मत करो अर्थात् दूसरों के द्वारा किये गये जिन कार्यों से तुमको दुःख होता है उन कार्यों को तुम दूसरों के प्रति भी मत करो।

अवृत्तिव्याधिशोकार्तानननुवर्तेत शक्तितः।
आत्मवत्सतत् पश्येदपि कीटपिपीलिकाः।।

जो आजीविका के अभाव से रोग तथा शोकादिक से दुःखी हैं ऐसे प्राणियों को

सदैव अपनी शक्ति के अनुसार सहायता करनी चाहिये। और छोटे-छोटे कीड़े-मकोड़े चींटी आदि सम्पूर्ण जीवों को भी सदैव अपने समान ही देखना चाहिये। इसलिये दयालु होना भी श्रावक धर्म में एक मुख्य गुण है।

अघभी- अदृष्ट (प्रत्यक्ष और परोक्ष) अपायस्वरूप फल देने वाले चोरी आदि मदिरापानादि पाप कर्म से भयभीत होने वाले को पाप भीरू कहते हैं। अर्थात् अघ=पाप से डरने वाला अघभी कहलाता है। इन गुणों को धारण करने वाला श्रावकधर्म को पालन कर सकता है।

आदर्श ग्रन्थ रचनाकार व ग्रन्थ रचना
(ग्रन्थ रचना है परमतप, ज्ञानदान, प्रभावना, ज्ञान सुरक्षा ज्ञान सम्बर्द्धन

(चालः- 1. सुनो सुनो ....2. आत्मशक्ति....)

सुनो! हे भव्य तुम्हें बताऊँ ग्रन्थ रचना की सच्ची पद्धति।
पूर्व आचार्यों ने जैसे किया उस के अनुसार अच्छी पद्धति।।
देवशास्त्र गुरु आदि के स्मरणपूर्वक स्वशिक्षा दीक्षा गुरु के नमनपूर्वक।
लेखन प्रारंभ करते हैं स्व पर विश्व कल्याण की भावना पूर्वक।। (1)

यह है आदि मंगल तथाहि मध्य मंगल व अन्त मंगल सहित।
ग्रन्थ रचते गद्य या पद्य में, सूत्रात्मक से ले स्वोपज्ञटीका सहित।।
प्राकृत संस्कृत या दोनों मिश्रित तथाहि स्वयोग्यता अनुसार।
अलंकार छन्द नव रस से युक्त अनेकान्त सिद्धान्त सप्तभंगी सहित।। (2)

अनुयोग भले कोई भी हो प्रमुख विषय प्रतिपाद्य होता है आत्मा।
इस हेतु ही वर्णन करते षट्द्रव्य सप्ततत्व नवपदार्थ की समीक्षा।।
वस्तु स्वरूप अनेकान्त होने से प्रतिपक्षी गुणयुक्त होता वर्णन।
मोक्ष के प्रतिपक्ष संसार है तो व्रतों के प्रतिपक्ष अव्रतों का वर्णन।। (3)

जीव के प्रतिपक्ष अजीव है तो धर्म के प्रतिपक्ष अधर्म का वर्णन।
तथाहि हिंसा-अहिंसा पुण्य-पाप, बन्ध-मोक्ष आदि का वर्णन।।

कार्य-कारण निमित्त-उपादान कर्त्ता-भोक्ता, आदि का करते वर्णन।
पाप-पापी के वर्णन द्वारा पापफल वर्णन से उसके त्याग का वर्णन।। (4)

ग्रन्थ रचना के कारण व फल तथाहि स्वगुरु परम्परा का वर्णन।
जिसके कारण ग्रन्थ रचना में प्रेरक व अनुरोधकर्त्ता का वर्णन।।
अन्य ग्रन्थ से यदि करते उद्धृत उसका भी करते वे वर्णन।
अन्यथा उन्हें निह्नव आदि के कारण बन्ध होंगे ज्ञानदर्शनावरण।। (5)

ध्यान-अध्ययन मुख्य साधु धर्म में ग्रन्थ रचना भी इसके अन्तर्गत।
''स्वाध्याय परम तप होने से ग्रन्थ रचना से वे करते परम तप।।
गणधर से ले पुष्पदन्त, भूतबली आचार्य यतिवृषभ व कुन्दकुन्दाचार्य।
जिनसेन, वीरसेन, देवनन्दी, नेमिचन्द्र, अकलंक, समन्तभद्र आदि रचे ग्रन्थ।।

इससे ही सर्वज्ञ द्वारा उपदिष्ट सत्य आंशिक रूप में अभी भी विद्यमान।
जिससे जिज्ञासु भव्य प्राप्त कर रहे आत्मा से ले परमात्मज्ञान।।
ग्रन्थ रचनाकार करते परमतप तथाहि ज्ञानदान व सातिशय पुण्य।
जिससे वे परम्परा से महाज्ञानी, श्रुतकेवली से ले बनते अरिहंत सिद्ध।। (7)

जो ग्रन्थ रचना व प्रकाशन में सहयोग करते तथाहि करते स्वाध्याय।
वे भी परम्परा से महाज्ञानी श्रुतकेवली से ले बनते अरिहन्त सिद्ध।।
जो इसे गलत मानते तथाहि करते निन्दा वे बान्धते ज्ञानदर्शनावरण मोहनीय
वे कुज्ञानी मोही होकर विविध पापकर करते संसार में परिभ्रमण।। (8)
यह है आगम सम्मत महान् कर्म जो पापी अज्ञानी द्वारा असंभव।
ज्ञानी पुण्यात्मा द्वारा होता सम्पादित ''सूरी करक'' अनुकरण करे ये आदर्श।।

ग.पु. कॉ. 29.5.2020 रात्रि 10.55

संदर्भ-

सिद्धं ध्रौव्य व्ययोत्पादलक्षणद्रव्यसाधनम्।
जैनं द्रव्याद्यपेक्षातः साद्यनाद्यय शासनम्।।1।।हरिवंश पु.)

जो वादी-प्रतिवादियों के द्वारा निर्णीत होने के कारण सिद्ध है, उत्पाद, व्यय एवं ध्रौव्य लक्षण से युक्त जीवादि द्रव्यों को सिद्ध करने वाला है, और द्रव्यार्थिक नयकी

अपेक्षा अनादि तथा पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा सादि है ऐसा जिन-शासन सदा मंगलरूप है। जिनका शुद्ध ज्ञान रूपी प्रकाश सर्वत्र फैल रहा है, जो लोक और अलोक को प्रकाशित करने के लिए अद्वितीय सूर्य है, तथा जो अनन्तचतुष्टय रूपी लक्ष्मी से सदा वृद्धिगत हैं ऐसे श्री वर्धमान जिनेन्द्र को नमस्कार हो। जो सर्वज्ञ हैं, युग के प्रारम्भ की सब व्यवस्थाओं के करने वाले हैं, तथा जिन्होंने सर्वप्रथम धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति चलायी है उन स्वयंबुद्ध भगवान् वृषभदेव को नमस्कार हो।। जिन्होंने अपने ही समान आचरण करने वाला द्वितीय तीर्थ प्रकट किया था तथा जिन्होंने अन्तरंग बहिरंग शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर ली थी ऐसे उन अजितनाथ जिनेन्द्र को नमस्कार हो। जिन शंभव नाथ के भक्त भव्यजन संसार अथवा मोक्ष-दोनों ही स्थानों में सुख को प्राप्त हुए थे उन तृतीय शंभवनाथ तीर्थंकरके लिए नमस्कार हो। लोगों को आनन्दित करने वाले जिन अभिनन्दन नाथ ने सार्थक नाम को धारण करने वाले चतुर्थ तीर्थ की प्रवृत्ति की थी उन श्री अभिनन्दन जिनेन्द्र के लिए मन-वचन काय से नमस्कार हो। जिन्होंने विस्तृत अर्थ से सहित पंचम तीर्थ की प्रवृत्ति की थी तथा जो सदा सुमति-सद्बुद्धि के धारक थे उन पंचम सुमतिनाथ तीर्थंकरके लिए नमस्कार हो। कमलों की प्रभा को जीतने वाली जिनकी प्रभाने दिशाओं को देदीप्यमान किया था उन छठवें तीर्थंकर श्री पद्मप्रभ जिनेन्द्र के लिए नमस्कार हो। जिन्होंने आत्महित से सम्पन्न होकर पर हित के लिए सप्तम तीर्थ की उत्पत्ति की थी तथा जो स्वयं कृतकृत्य थे उन सुपार्श्वनाथ भगवान् के लिए नमस्कार हो। जो इन्द्रों के द्वारा सेवित अष्टम तीर्थ के प्रवर्तक एवं रक्षक थे तथा जो चन्द्रमा के समान निर्मल कीर्ति के धारक थे उन चन्द्रप्रभ जिनेन्द्र के लिए नमस्कार हो। जिन्होंने अपने शरीर तथा दाँतों की कान्ति से कुन्दपुष्प की कन्ति को परास्त कर दिया था और जो नौवें तीर्थ के प्रवर्तक थे उन पुष्पदन्त भगवान् के लिए नमस्कार हो। जो प्राणियों के सन्ताप को दूर करने वाले उज्ज्वल एवं शीतल दशवें तीर्थ के कर्ता थे उन कुमार्ग के नाशक श्री शीतलनाथ जिनेन्द्र के लिए नमस्कार हो। जिन्होंने श्री शीतलनाथ भगवान् के मोक्ष जाने के बाद व्युच्छित्तिको प्राप्त तीर्थको प्रकट कर भव्य जीवों का संसार नष्ट किया था तथा जो ग्यारहवें जिनेन्द्र थे उन श्री श्रेयांसनाथ भगवान् के लिए नमस्कार हो। जिन्होंने कुतीर्थरूपी अन्धकार को नष्ट कर बारहवाँ उज्ज्वल तीर्थ प्रकट किया था तथा जो

सबके स्वामी थे ऐसे उन वासुपूज्य भगवान् रूपी सूर्य को नमस्कार हो। जिन्होंने कुमार्ग रूपी मल से मलिन संसार को तेरहवें तीर्थ के द्वारा निर्मल किया था उन विमलनाथ भगवान् को नमस्कार हो। जो चौदहवें तीर्थ के कर्ता थे तथा जिन्होंने अनन्त अर्थात् संसार को जीत लिया था और जो मिथ्या धर्म रूपी अन्धकार को नष्ट करने के लिए सूर्य के समान थे उन अनन्तनाथ जिनेन्द्र को नमस्कार हो। जो अधर्म के मार्ग से पाताल-नरक में पड़ने वाले प्राणियों का उद्धार करने में समर्थ पन्द्रहवें तीर्थ के कर्त्ता थे उन श्री धर्मनाथ मुनीन्द्र के लिए नमस्कार हो। जो सोलहवें तीर्थ के कर्ता थे, जिन्होंने अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि नाना ईतियों को शान्त किया था, जो चक्ररत्न के स्वामी थे, और स्वयं अत्यन्त शान्त थे उन शान्तिनाथ जिनेन्द्र के लिए नमस्कार हो। जिन्होंने सतरहवाँ तीर्थ प्रवृत्त किया था, जो विशाल कीर्ति के धारक थे, तथा जो जिनेन्द्र होने के पूर्व चक्ररत्न को प्रवृत्त करने वाले-चक्रवर्ती थे उन श्री कुन्थु जिनेन्द्र को नमस्कार हो। जो अठारहवें तीर्थंकर थे, प्राणियों का कल्याण करने वाले थे, और जिन्होंने पापरूपी शत्रु को नष्ट कर दिया था उन चक्ररत्न के धारक श्री अरनाथ जिनेन्द्र के लिए नमस्कार हो। जिन्होंने उन्नीसवें तीर्थ के द्वारा अपनी स्थायी कीर्ति स्थापित की थी, तथा जो मोहरूपी महामल्लको नष्ट करने के लिए अद्वितीय मल्ल थे ऐसे मल्लिनाथ भगवान् के लिए नमस्कार हो। जिन्होंने अपना बीसवाँ तीर्थ प्रवृत्त कर लोगों को संसार से पार किया था उन श्री मुनिसुव्रत भगवान् के लिए निरन्तर नमस्कार हो। जो मुनियों में मुख्य थे, जिन्होंने अन्तरंग-बहिरंग शत्रुओं को नम्रीभूत कर दिया था, और जिन्होंने इक्कीसवाँ तीर्थ प्रकट किया था उन नमिनाथ भगवान् के लिए नमस्कार हो। जो सूर्य के समान देदीप्यमान थे, हरिवंशरूपी पर्वत के उत्तम शिखामणि थे, और बाईसवें तीर्थरूपी उत्तम चक्र के नेति(अयोधारा) स्वरूप थे उन अरिष्टनेमि तीर्थंकरके लिए नमस्कार हो। जो तेईसवें तीर्थ के धर्ता थे तथा जिनके ऊपर पर्वत उठाकर उपद्रव करने वाला असुर धरणेन्द्र के द्वारा नष्ट किया गया था वे पार्श्वनाथ भगवान-जयवन्त हों। इस प्रकार इस अवसर्पिणी के तृतीय और चतुर्थ काल में धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति करने वाले जो जिनेन्द्र हुए हैं वे सब हम लोगों की सिद्धि के लिए हों।

येऽतोतापेक्ष याऽन्ताःसंख्येया वर्तमानतः।
अनन्तानन्तमानास्तु भाविकालव्यपेक्षया।।27।।

तेऽर्हन्तः सन्तु नः सिद्धाः सूर्युपाध्यायसाधवः।
मङ्गलं गुरवः पञ्च सर्वे सर्वत्र सर्वदा।।28।।
जीवसिद्धिविधायीह कृतयुक्त्यनुशासनम्।
वचः समन्तभद्रस्य वीरस्येव विजृम्भते।।29।।

जो भूतकाल की अपेक्षा अनन्त हैं, वर्तमान की अपेक्षा संख्यात हैं, और भविष्यत् की अपेक्षा अनन्तानन्त हैं वे अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु समस्त पंच परमेष्ठी सब जगह तथा सब काल में मंगलस्वरूप हों।

जो जीवसिद्धि नामक ग्रन्थ (पक्ष में जीवों की मुक्ति) के रचयिता हैं तथा जिन्होंने युक्त्या-नुशासन नामक ग्रन्थ (पक्ष में हेतु वाद के उपदेश) की रचना की है ऐसे श्री समन्तभद्रस्वामी के वचन इस संसार में भगवान् महावीर के वचनों के समान विस्तार को प्राप्त हैं।

जिनका ज्ञान संसार में सर्वत्र प्रसिद्ध है ऐसे श्री सिद्धसेन की निर्मल सूक्तियाँ श्री वृषभ जिनेन्द्र की सूक्तियों के समान सत्पुरुषों की बुद्धि को सदा विकसित करती हैं। जो इन्द्र, चन्द्र, अर्क और जैनेन्द्र व्याकरणों का अवलोकन करने वाली है ऐसी देववन्द्य देवनन्दी आचार्य की वाणी क्यों नहीं वन्दनीय है?। जो हेतु सहित बन्ध और मोक्ष का विचार करने वाली हैं ऐसी श्री वज्रसूरि की उक्तियाँ धर्मशास्त्रों का व्याख्यान करने वाले गणधरों की उक्तियों के समान प्रमाणरूप हैं। जो मधुर है- माधुर्य गुण से सहित है (पक्ष में अनुपम रूप से युक्त है) और शीलालंकारधारिणी है- शीलरूपी अलंकार का वर्णन करने वाली है (पक्ष में शीलरूपी अलंकार को धारण करने वाली है) इस प्रकार सुलोचना सुन्दर नेत्रों वाली वनिता के समान, महासेन कवि की सुलोचना नामक कथा का किसने वर्णन नहीं किया है अर्थात् सभी ने वर्णन किया है। श्री रविषेणाचार्य की काव्यमयी मूर्ति सूर्य की मूर्ति के समान लोक में अत्यन्त प्रिय है क्योंकि जिस प्रकार सूर्य की मूर्ति कृतपद्मोदयोद्योता है अर्थात् कमलों के विकास और उद्योत-प्रकाश को करने वाली है उसी प्रकार रविषेणाचार्य की काव्यमयी मूर्ति भी कृतपद्मोदयोद्योता अर्थात् श्री राम के अभ्युदय का प्रकाश करने वाली है- पद्मपुराण की रचना के द्वारा श्री राम के अभ्युदय को निरूपित करने वाली है और सूर्य की मूर्ति जिस प्रकार प्रतिदिन परिवर्तित होती रहती है उसी प्रकार रविषेणाचार्य की काव्यमयी

मूर्ति भी प्रतिदिन परिवर्तित अभ्यस्त होती रहती है।जिस प्रकार उत्तम स्त्री अपने हस्त-मुख-पाद आदि अंगों के द्वारा अपने आपके विषय में मनुष्यों का गाढ़ अनुराग उत्पन्न करती रहती है उसी प्रकार श्री वरांगचरित की अर्थपूर्ण वाणी भी अपने समस्त छन्द अलंकार रीति आदि अंगो से अपने आपके विषय में किस मनुष्य के गाढ़ अनुराग को उत्पन्न नहीं करती ?। श्री शान्त(शान्तिषेण) कवि की वक्रोक्ति रूप रचना, रमणीय उत्प्रेक्षाओं के बल से, मनोहर अर्थ के प्रकट होने पर किसके मन को अनुरक्त नहीं करती है ?। जो गद्य-पद्य सम्बन्धी समस्त विशिष्ट उक्तियों के विषय में विशेष अर्थात् तिलकरूप हैं तथा जो विशेष (ग्रन्थ विशेष) का निरूपण करने वाले हैं ऐसे विशेषवादी कवि का विशेषवादीपना सर्वत्र प्रसिद्ध है। श्री कुमारसेन गुरु का वह यश इस संसार में समुद्र पर्यन्त सर्वत्र विचरण करता है जो प्रभाचन्द्र नामक शिष्य के उदय से उज्ज्वल है तथा जो अविजित रूप है- किसी के द्वारा जीता नहीं जा सकता है। जिन्होंने स्वपक्ष और परपक्ष के लोगों को जीत लिया है तथा जो कवियों के चक्रवर्ती हैं ऐसे श्री वीरसेन स्वामी की निर्मल कीर्ति प्रकाशमान हो रही है। अपरिमित ऐश्वर्य को धारण करने वाले श्री पार्श्वनाथ जिनेन्द्र की जो गुणस्तुति है वही जिनसेन-स्वामी की कीर्ति को विस्तृत कर रही है।

भावार्थ- श्री जिनसेन स्वामी ने जो पार्श्वाभ्युदय काव्य की रचना की है वही उनकी कीर्ति को विस्तर कर रही है। वर्तमान पुराणरूपी उगते हुए सूर्य की सूक्तिरूपी किरणे विद्वज्जनों के अन्तःकरणरूपी पर्वतों को मध्यवर्तिनी स्फटिक की दीवालों पर देदीप्यमान हैं।

निर्गुणाऽपि गुणान् सद्भिः कर्णपूरी कृता कृतिः।
विभर्त्त्येव वधूवक्त्रैश्चूतस्यैवाग्रमञ्जरी।।(42।)
साधुरस्यति काव्यस्य दोषवत्तामयाचितः
पावकः श्रोधयत्येव कलधौतस्य कालिकाम्।।43।।
काव्यस्यान्तर्गतं लेपं कुतधिदपि सत्सभाः
प्रक्षिपन्ति बहिः क्षिप्रं सागरस्येव वीचयः।।44।।
मुक्ताफलतयाऽऽदानात् परिषद्भिः कृतिः स्फुरेत्।

जलात्मापि विशुद्धाभिस्तोयधेरिव शुक्तिभिः।।45।।

दुर्वचोविषदुष्टान्तर्मुखस्फुतजिह्वकान्-
निगृह्णन्ति खलव्यालान् सन्ननरेन्द्रः स्वशक्तिभिः।।।46।।

जिस प्रकार स्त्रियों के मुखों के द्वारा अपने कानों में धारण की हुई आमकी मंजरी निर्गुणा-डोरा-रहित होने पर भी गुण सौन्दर्य विशेष को धारण करती है उसी प्रकार सत् पुरुषों के द्वारा श्रवण की हुई निर्गुणा-गुण-रहित रचना भी गुणों को धारण करती है। भावार्थ-यदि निर्गुण रचनाओं को भी सत् पुरुष श्रवण करते हैं तो वह गुण सहित के समान जान पड़ती है।

साधु पुरुष याचना के बिना ही काव्य के दोषों को दूर कर देता है सो ठीक ही है क्योंकि अग्नि स्वर्ण की कालिमा को दूर हटा ही देती है। जिस प्रकार समुद्र की लहरें भीतर पडे हुए मैल को शीघ्र ही बाहर निकालकर फेंक देती है उसी प्रकार सत्पुरुषों की सभाएँ किसी कारण काव्य के भीतर आये हुए दोष को शीघ्र ही निकालकर दूर कर देती हैं। जिस प्रकार समुद्र की निर्मल सीपों के द्वारा ग्रहण किया हुआ जल मोतीरूप हो जाता है उसी प्रकार दोष रहित सत्पुरुषों की सभाओं के द्वारा ग्रहण की हुई जड़ रचना भी उत्तम रचना के समान देदीप्यमान होने लगती है। दुर्वचनरूपी विष से दूषित जिनके मुखों के भीतर जिह्वाएँ लपलपा रही हैं ऐसे दुर्जनरूपी साँपों को सज्जनरूपी विषवैद्य अपनी शक्ति से शीघ्र ही वश कर लेते हैं। जिस प्रकार मधुर गर्जना करने वाले मेघ, अत्यधिक धुलि से युक्त, रूक्ष और तीव्र दाह उत्पन्न करने वाले ग्रीष्मकाल को समय आने पर शान्त कर देते हैं उसी प्रकार मधुर भाषण करने वाले सत्पुरुष, अत्यधिक अपराध करने वाले, कठोर प्रकृति एवं सन्ताप उत्पन्न करने वाले दुष्ट पुरुष को समय आने पर शान्त कर लेते हैं।।

रेजीबहुलमाभारुक्षं खलं कालं विदाहिनम्।
सन्तः काले कलध्वानाः शमयन्ति यथा घनाः।(47)।
साध्वसाधुसमाकारप्रवृत्तमबुधं बुधाः।
वारयन्ति तमोराशिं रवीन्द्वोरिव रश्मयः।।48।।
इत्थं साधुसहायोऽहमनातङ्कमनुद्धतम्।
देहं काव्यमयं लोके करोमि स्थिरमात्मनः।।49।।

बद्धमूलं भुवि ख्यातं बहुशाखाविभूषितम्।
पृथुपुण्यफलं पूतं कल्पवृक्षसमं परम्।।50।।
अरिष्टनेमिनाथस्य चरितेनोज्ज्वलीकृतम्।
पुराणं हरिवंशाख्यं ख्यापयाममि मनोहरम्।।51।। युग्मम्
द्युमणिद्योतितं द्योत्यं द्योतयन्ति यथाणवः
मणिप्रदीपखद्योतविद्युतोऽपि यथायथम्।।52।।
द्योतितस्य तथा तस्य पुराणस्य महात्मभिः।
द्योतने वर्ततेऽत्यल्पो मादृशोऽप्यनुरूपतः।।53।।
विप्रकृष्टमपि ह्यर्थं सौकुमार्ययुतं मनः।
सूरिसूर्यकृतालोकं लोकचक्षुरिवेक्षते।।54।।
पञ्चधाप्रविभक्तार्थं क्षेत्रादिप्रविभागतः।
प्रमाणमागमाख्यं तत्प्रमाणपुरुषोदितम्।।55।।
तथाहि मूलतन्त्रस्य कर्ता तीर्थकरः स्वयम्।
ततोऽप्युत्तरतन्त्रस्य गौतमाभख्यो गणाग्रणीः।।56।।
उत्तरोत्तरतन्त्रस्य कर्त्तारो बहवः क्रमात्।
प्रमाणं तेऽपि नः सर्वे सर्वज्ञोक्त्यनुवादिनः।।57।।
त्रयः केवलिनः पञ्च ते चतुर्दशपूर्विणः।
क्रमेणैकादश प्राज्ञा विज्ञेया दशपूर्विणः।।58।।
पञ्चैवैकादशाङ्गानां धारकाः परिकीर्तिताः
आचाराङ्गस्य चत्वारः पञ्चधेति युगस्थितिः।।59।।

जिस प्रकार सूर्य और चन्द्रमा की किरणें, अच्छे और बुरे पदार्थों को एकाकार करने में प्रवृत्त अन्धकार की राशि दूर कर देती है उसी प्रकार विद्वान मनुष्य, सज्जन और दुर्जन के साथ समान प्रवृत्ति करने में तत्पर मूर्ख मनुष्य को दूर कर देती हैं। इस प्रकार साधुओं की सहायता पाकर मैं रोग और अभिमान से रहित अपने इस काव्यरूपी शरीर को संसार में स्थायी करता हूँ। अब मैं उस हरिवंश पुराण को कहता हूँ जो बद्धमूल है- प्रारम्भिक इतिहास से सहित (पक्ष में जड़ से युक्त है), पृथिवी में अत्यन्त प्रसिद्ध है,, अनेक शाखाओं-कथाओं-उपकथाओं से विभूषित है, विशाल

पुण्यरूपी फल से युक्त है, पवित्र है, कल्पवृक्ष के समान है, उत्कृष्ट है, श्री नेमिनाथ भगवान् के चरित्र से उज्ज्वल है, और मन को हरण करने वाला है। जिस प्रकार सूर्य के द्वारा प्रकाशित पदार्थ को, अत्यन्त तुच्छ तेज के धारक मणि, दीपक, जुगनू तथा बिजली आदि भी यथायोग्य-अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार प्रकाशित करते हैं उसी प्रकार बड़े-बड़े विद्वान् महात्माओं के द्वारा प्रकाशित इस पुराण के प्रकाशित करने में मेरे जैसे अल्प शक्ति का धारक पुरुष भी अपनी सामर्थ्य के अनुसार प्रवृत्त हो रहा है। जिस प्रकार सूर्य का आलोक पाकर मनुष्य का नेत्र दूरवर्ती पदार्थ को भी देख लेता है उसी प्रकार पूर्वाचार्यरूपी सूर्य का आलोक पाकर मेरा सुकुमार मन अत्यन्त दूरवर्ती-कालान्तरित पदार्थ को भी देखने में समर्थ है। जिसके प्रतिपादनीय पदार्थ-क्षेत्र, द्रव्य, काल, भव और भाव के भेद से पाँच भेदों में विभक्त हैं तथा प्रामाणिक पुरुषों-आप्तजनों ने जिसका निरूपण किया है ऐसा आगम नाम का प्रमाण, प्रसिद्ध प्रमाण है। इस तन्त्र के मूलकर्ता स्वयं श्री वर्धमान तीर्थंकर हैं, उनके बाद उत्तर तन्त्र के कर्ता श्री गौतम गणधर हैं, और उनके अनन्तर उत्तरोत्तर तन्त्र के कर्ता क्रम से अनेक आचार्य हुए हैं सो वे सभी सर्वज्ञ के कथन का अनुवाद करने वाले होने से हमारे लिए प्रमाणभूत हैं। इस पंचमकाल में तीन केवली, पाँच चौदह पूर्व के ज्ञाता, पाँच ग्यारह अंगों के धारक, ग्यारह दशपूर्व के जानकार और चार आचारांग के ज्ञाता इस तरह पाँच प्रकार के मुनि हुए हैं।

श्री वर्धमान जिनेन्द्र के मुख से श्री इन्द्रभूति (गौतम) गणधर ने श्रुत को धारण किया उनसे सुधर्माचार्य ने और उनसे जम्बू नामक अन्तिम केवली ने। उनके बाद क्रम से 1 विष्णु, 2 नन्दिमित्र, 3 अपराजित, 4 गोवर्धन, और 5 भद्रबाहु ये पाँच श्रुतकेवली हुए। इनके बाद ग्यारह अंग और दशपूर्व के जानने वाले निम्नलिखित ग्यारह मुनि हुए- 1 विशाख, 2 प्रोष्ठिल, 3 क्षत्रिय, 4 जय, 5 नाग, 6 सिद्धार्थ, 7 धृतिषेण, 8 विजय, 9 बुद्धिल, 10 गंगदेव, और 11 धर्मसेन। इनके अनन्तर 1 नक्षत्र, 2 यशःपाल, 3 पाण्डु, 4 ध्रुवसेन और 5 कंसाचार्य ये पाँच मुनि ग्यारह अंग के ज्ञाता हुए। तदनन्तर 1 सुभद्र, 2 यशोभद्र, 3 यशोबाहु और लोहार्य ये चार मुनि आचारांग के धारक हुए।।

पूर्वाचार्येभ्य एतेभ्यः परेभ्यश्च वितन्वतः।
एकदेशागमस्यायमेकदेशोऽपदिश्यते।।66।।
अर्थतः पूर्व एवयामपूर्वो ग्रन्थतोऽल्पतः।
शास्त्रविस्तरभीरुभ्यः क्रियते सारसंग्रहः।।67।।
मनोवाक्कायशुद्धस्य भव्यस्याभ्यस्यतः सदा।
श्रेयस्करपुराणार्थो वक्तुः श्रोतुश्र जायते।।68।।
बाह्याभ्यन्तरभेदेन द्विविधेऽपि तपोविधौ।
अज्ञानप्रतिपक्षत्वात् स्वाध्यायः परमं तपः।।69।।
यतस्ततः पुराणार्थः पुरुषार्थकरः परः।
वक्तव्यो देशकालज्ञैः श्रोतव्यस्त्यक्तमत्सरैः।।70।।

इस प्रकार इन तथा अन्य आचार्यों से जो आगम का एकदेश विस्तार को प्राप्त हुआ था उसी का यह एकदेश यहाँ कहा जाता है। यह ग्रन्थ अर्थ की अपेक्षा पूर्व ही है अर्थात् इस ग्रन्थ में जो वर्णन किया गया है वह पूर्वाचार्यों से प्रसिद्ध ही है परन्तु शास्त्र के विस्तार से डरने वाले लोगों के लिए इसमें संक्षेप से सारभूत पदार्थों का संग्रह किया गया है इसलिए इस रचना की अपेक्षा यह अपूर्व अर्थात् नवीन है। जो भव्य जीव मन-वचन-काय की शुद्धिपूर्वक सदा इसका अभ्यास करते हुए कथन अथवा श्रवण करेंगे उनके लिए यह पुराण कल्याण करने वाला होगा। बाह्य और आभ्यन्तर के भेद से तप दो प्रकार का कहा गया है सो उन दोनों प्रकार के तपों में अज्ञान का विरोधी होने से स्वाध्याय परम तप कहा गया है। यतश्च इस पुराण का अर्थ उत्तम पुरुषार्थों का करने वाला है इसलिए देश-काल के ज्ञाता मनुष्यों के लिए मात्सर्यभाव छोड़कर इसका कथन तथा श्रवण करना चाहिए।

गौतमो गोतमो गीष्पा गणेशो गणनायकः
गिरां गणननतो नित्यं भातु भाभारभूषितः।(7) पाण्डवपु.

(गौतमादि-यतीश्वरकों का स्तवन) जिन्होंने वीर प्रभु के मुख से निकली हुई वाणी धारण की है, जो गोतम अर्थात् किरणातिशय से युक्त हैं, तेजः संपन्न शरीर वाले हैं, अथवा गोतम अर्थात् द्वादशांग वाणी की गणना करने के कारण उत्कृष्ट वाणी के धारक हैं या गोतम अर्थात् पृथ्वी पर श्रेष्ठ हैं, जो चतुःसंघ के अधिपति-पथप्रदर्शक

हैं तथा जो कान्ति मण्डल से भूषित हैं वे गौतमगणधर सदा प्रकाशमान रहें।

भद्रबाहुर्महाभद्रो महाबाहुर्महातपाः
स जीयात्सकलं येन श्रुतं ज्ञातं कलौ विदा।(12)
विशाखो विश्रुता शाखा सुशाखो यस्य पातु माम्।
स भूतले मिलन्मौलिहस्तभूलोकसंस्तुतः।(13)
कुन्दकुन्दो गणी येनोर्ज्जयन्तगिरिमस्तके।
सोऽवताद्वादिता ब्राह्मी पाषाणघटिता कलौ।(14)
समन्तभद्रो भद्रार्थो भातु भारतभूषणः।
देवागमेन येनात्र व्यक्तो देवागमः कृतः।(15)

इस पंचमकाल में जिस बुद्धिमान ने सम्पूर्ण द्वादशाङ्ग-श्रुत को जाना तथा जो महातपस्वी तथा भव्य जीवों के महाकल्याण करने वाले थे, जो आजानुलम्बीभुजाधारी होने से महाबाहु थे उन भद्रबाहु श्रुतकेवली की जय हो। जिनकी ज्ञानशाखा विशिष्ट थी अर्थात् जो ग्यारह अंग, चतुर्दश पूर्वज्ञान धारण करने वाले थे, जिनकी शिष्यशाखा अर्थात् शिष्य परम्परा भी निर्मल ज्ञान चारित्र वाली थी, तथा इस भूतल पर सारा संसार मस्तक पर हाथ जोडकर जिनकी स्तुति करता था वे विशाखाचार्य मेरी रक्षा करें। जिन्होंने इस पंचमकाल में गिरनार पर्वत के शिखर पर स्थित पाषाणनिर्मित सरस्वती-देवी को बुलवाया वे कुन्दकुन्दाचार्य मेरी रक्षा करें। देवागम-स्तोत्र के द्वारा जिन्होंने इस संसार में देव का आगम अर्थात् जिनदेव के सिद्धान्त की महिमा व्यक्त की, जिनके कार्य ग्रंथरचना आदि भव्यों का भद्र (हित) करने वाली हैं वे भारत के अलंकार आचार्य समन्तभद्र सदा शोभायमान रहें।

पूज्यपुरुषों के द्वारा जिनके चरण सदा पूजे जाते थे इसलिये जिनका 'पूज्यपाद' नाम सार्थक है, जो विस्तीर्ण सद्गुणवाले व्याकरण समुद्र के पारगामी थे वे आचार्य पूज्यपाद मेरी रक्षा करें। जिन्होंने घडे में बैठी हुई मायादेवी का पैर से ताडन किया वे कलंकरहित अकलंकदेव मुझे इस पंचमकाल में श्रुतज्ञान देवें। जो जिनों की सेना को अर्थात् जिनेन्द्र भक्तों के समुदाय को धारण करते थे, तथा जिनने पुराण पुरुषों के (अर्थात् तिरसठ शलाकापुरुषों के) श्रेष्ठपुराण की, (महापुराण) रचना की वे जिनसेनाचार्य जयवंत हो। महापुराणरूपी पर्वत पर शीघ्र प्रकाश डालने के लिए जो

सूर्य के समान हुए वे पूज्य गुणभद्रभगवान् इस भूतल पर शोभायमान होवें। श्री गुणभद्राचार्य के पुराणों का अभिप्राय देखकर तथा सरस्वती के अन्य शास्त्रों को हृदय में धारण कर मैं पाण्डवों के पुराण की, जिसको भारत कहते हैं, रचना करता हूँ। यह अथाह पुराणसमुद्र कहाँ और इसमें प्रवृत हुई मेरी छोटी सी बुद्धि कहाँ ? इस लिए ग्रंथ रचने का मेरा साहस पूर्ण हास्यास्पद् तथा भयदायक होगा। जिनसेनादि कवि शास्त्र के पारंगत हुए हैं; उनके चरणस्मरणजन्य आनन्द से मैं पाण्डवों की उत्कृष्ट कथा कहता हूं। जैसे गूंगा मनुष्य बोलने की इच्छा करने से त्रैलोक्य में हास्य पात्र होता है उसी प्रकार शास्त्र का कथन करने की इच्छा करने वाला मैं इस जगत् में हास्यपात्र बन जाउँगा। जैसे मेरुगिरि के उच्च शिखर पर चढने की इच्छा करने वाला पंगु पुरुष लोगों का हास्यपात्र बनता है वैसे ही शास्त्र की रचना करने की इच्छा करने वाला मैं भी परमार्थ से हास्यपात्र बनूँगा। असमर्थ होने पर भी मैं पाण्डव पुराण की रचना करने का प्रयत्न कर रहा हूं, क्योंकि क्षीण गाय भी अपने बछड़े को दूध पिलाकर उसका संरक्षण करती है।

पूर्वाचार्य कृतार्थस्य प्रकाशनविधौ यते।
ब्रध्नप्रकाशितं ह्यर्थं दीपः किं न प्रकाशयेत्।।(26)
वक्राकुतास्तु वहवः कवयोऽन्ये स्वभावतः।
स्वल्पा यथा पलाशाद्या आम्राद्याश्च त्रिविष्टपे।।(27)
सन्ति सन्तः कियन्तोऽत्र काव्यदूषणवारकाः।
स्वार्ण मलं यथा नित्यं शोधयन्ति धनञ्जयाः।।(28)
असन्तश्च स्वभावेन परार्थ दूषयन्त्यहो।
द्विवान्धा द्वादशात्मानं यथा दूषणदूषिताः।।(29)
वह्नयो दाहका नूनं तृषादुःखनिवारकाः।
स्वर्ण मलं यथा नित्यं सन्तः सन्ति च भूतले।।(30)
यथा मत्ता न जानन्ति हेयाहेयविवेचनम्।
तथा खलाः खलं लोकं कुर्वन्ति खलु केवलम्।।(31)
पयोधरा धरां धृत्या धरन्त्यम्बुप्रदानतः।
सज्जनास्तु जनान्सर्वांस्तथा सन्तुथ्यशिक्षया।।(32)

सर्पो विषकणं दत्ते सुधां चामृतदीधितिः
खलोऽसाताय कल्पेत सज्जनस्तु हिताप्तये।।(33)
खलेतरस्वभावोऽयं ज्ञातव्यो ज्ञानकोविदैः
अलं तेन विचारेण वयं लघु हितैषिणः।।(34)
षड्विधाख्यायते व्याख्या व्याख्या तैस्तत्र मङ्गलम्।
निमित्त कारणं कर्ताभिधानं मानमेव च।।(35)

पूर्वाचार्य द्वारा प्रगट किये हुए, पुराणार्थ को प्रकाशित करने के लिए मैं प्रयत्न कर रहा हूं, क्या सूर्य प्रकाशित पदार्थों को दीप प्रकाशित नहीं करता है।।

सज्जनदुर्जनवर्णन= जिस प्रकार पलाशादिक वृक्ष जगत् में बहुत हैं और आम्रादिक वृक्ष अल्प हैं, उसी प्रकार इस जगत् में कुटिल अभिप्राय वाले अर्थात् कुटिलहृदय वाले कवि स्वभावतः बहुत हैं और सरल अभिप्राय वाले कवि अल्प हैं। जैसे अग्नि सदा सोने का मल दूर करती है, वैसे ही काव्यमलको दूर करने वाले कितने ही सज्जन इस जगत् में हैं। जिस तरह दूषणों से दूषित उल्लू पक्षी सूर्य को दोष देते है, उसी तरह दुष्ट पुरुष स्वभाव से ही दूसरे की कृति को (काव्य को) दोष देते हैं। इस भूतल में जिस तरह अग्नि सोने के मल को दूर करती है, इसी तरह सज्जन पुरुष तृष्णाजन्य दुःख को दूर करते हैं। जैसे मत्तपुरुष ग्राह्य अग्राह्यका कुछ विचार नहीं करते, वैसे ही दुष्ट पुरुष अच्छे बुरे का विचार नहीं करते हैं, परंतु निश्चय से वे लोगों को दुष्ट ही बनाते हैं। जैसे मेघ जल देकर पृथ्वी को शान्त करते हैं, वैसे ही सज्जन सभी लोगों को सम्यक्हितोपदेश से हित कार्य में स्थापन करते हैं। जैसे सर्प विषकण देता है, वैसे ही दुष्टजन लोगों को दुःख देते हैं और सज्जन उनका हित करते हैं। इस प्रकार सज्जन दुर्जनों का स्वभाव ज्ञानियों के द्वारा जानने योग्य है। अस्तु, इस विषय का इतना ही विचार पर्याप्त है, क्योंकि हम थोडे में ही हित चाहने वाले हैं।।
(व्याख्यान के छह प्रकार) पुराण का निरूपण करने वाले आचार्यों ने व्याख्या के छह प्रकार कहे हैं। वे इस प्रकार हैं- मंगल, निमित्त, कारण, कर्ता, अभिधान और मान।

इतिहाससमुद्रेऽस्मिन्मङ्गलं गदितं पुरा।
यज्जिनेन्द्रगुणस्तोत्रं मलक्षालनयोगतः।।(36)

यन्निमित्तमुपादाय मीयते शास्त्रसंचयः।
तन्निमित्तं मतं मान्यैः पापपङ्कनिवारकम्।।(37)
कारणं कृतिभिः प्रोक्तं भव्यवृन्दं समुध्दृतम्।
यथात्र श्रुतिसंधानः श्रेणिकः श्रेयसे श्रुतः।।(38)
कर्ता श्रुतौ श्रुतस्तत्र मूलकर्ता जिनेश्वरः।
गौतमोऽप्युत्तरः कर्ता कृतिनां संमतो मुदा।।(39)
उत्तरोत्तरकर्तारो विष्णुनन्द्यपराजिताः
गोवर्धनो भद्रबाहुर्बहवोऽन्ये तदादयः।।(40)
नाम्ना पुराणमर्थाढ्यं पाण्डवानां सुपण्डितैः
मतं पाण्डुपुराणाख्यं पुरुषौरुषसंगतम्।।(41)
संख्यया चार्थतोऽनन्तं संख्याताक्षरसंख्यया।
संख्यातं क्षिप्रमाख्यातं पुराणं पूर्वसूरिभिः।।(42)
षोढा संघा पुराणस्य ज्ञात्वा व्याख्येयमञ्जसा।
पञ्चधा तत्पुनः प्रोक्तं द्रव्यक्षेत्रादिभेदतः।।(43)
इति सर्वस्वमालौच्य पुराणं प्रोच्यते बुधैः।
वक्ता श्रोता कथास्तत्र विचार्याश्चारुलक्षण।(44)

प्राचीन कथाओं के निरूपण को इतिहास कहते हैं। इस इतिहास समुद्र के प्रारम्भ में इस पाण्डवपुराण की रचना के प्रारंभ में मंगल किया गया है। जिनेन्द्र गुणस्तोत्र को मंगल कहते हैं, क्योंकि वह भव्यों के पाप कर्मरूप मलका क्षालन करता है। जिस निमित्त को लेकर शास्त्रसमूह रचते हैं उसे पूज्य पुरुष निमित्त कहते हैं। अर्थात् ग्रंथकार अपनी और सुनने वालों के पापरूपी कीचड को नष्ट करने के लिये ग्रंथ रचते हैं। यहां पाप का विनाश करना इस ग्रंथ रचना का निमित्त है। विद्वान लोगों ने भव्य समूह को ग्रंथ रचने का कारण माना है। जैसे इस पुराण में शास्त्र श्रवण के संयोग में श्रेणिक राजा भव्य जीवों के हित के लिये कारण माना है। अर्थात् भव्य जीवों को शास्त्र श्रवण करने का जो प्रसंग प्राप्त हुआ उसमें श्रेणिक कारण है, क्योंकि श्रेणिकने गौतमगणधर से पाण्डव चरित कहने के लिये प्रार्थना की और गौतमगणधरने यह चरित्र कहा। शास्त्र में कर्ता का वर्णन है। शास्त्रों के मूलकर्ता वीर जिनेश्वर हैं, और विद्वान् लोगों ने आनन्द के साथ गौतमगणधर को उत्तरकर्त्ता स्वीकार किया है।

विष्णुमुनि, नन्दिमुनि, अपराजितमुनि, गौवर्धनमुनि और भद्रबाहुमुनि, ये पांच श्रुत केवली उत्तरोत्तर-कर्ता है। इस प्रकार अन्य विशाख, प्रौष्टिल आदिक अङ्गधारक मुनि भी उत्तरोत्तर कर्ता हैं। उत्तम विद्वानों ने पाण्डवों के इस पुराण को धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप चार पुरुषार्थों से परिपूर्ण होने से 'पाण्डुपुराण' नाम दिया है। यह पुराण महान् पौरुष से युक्त है। इस पुराण में पाण्डवों के महान् पौरुष का वर्णन है। इस पाण्डव पुराण अथवा महाभारत को पूर्वाचार्यो ने भावरूप श्रुत ज्ञान से अर्थ रूप अनंत कहा है, तथा अक्षर संख्या से संख्यातरूप कहा है। इस प्रकार पुराण की छह प्रकार की व्याख्या जानकर उसका परमार्थ से व्याख्यान करना चाहिये। अर्थात् पुराण का इन छह व्याख्याओं द्वारा व्याख्यान करना चाहिये। पुनः वह पुराण द्रव्य,क्षेत्र, तीर्थं, काल और भाव के भेद से पांच प्रकार का कहा गया है। इस प्रकार सभी अपेक्षाओं से विचार कर विद्वान् पुराण का कथन करते हैं। यहां वक्ता श्रोता और कथा के सुन्दर लक्षण भी विचार करने योग्य है।

(वक्ता के लक्षण) वाक्यों का उच्चार स्पष्ट करने वाला, वाग्मी, युक्तियुक्त भाषण करने में चतुर, बुद्धिमान, संतोष उत्पन्न करने वाला, निर्मल अभिप्राय वाला, महाचतुर, लोक व्यवहार का ज्ञाता, प्रवीण, शास्त्रों के मार्ग का ज्ञाता, निस्पृह, प्रशान्तकषायी, जितेन्द्रिय, जितात्मा-संयमी, सौम्य, सुंदरदृष्टियुक्त, कल्याण रूप, श्रुतज्ञान को धारण करने वाला, जीवादि तत्त्वों का ज्ञाता, बौद्ध, सांख्य, मीमांसकादि छह मतों के पदार्थों का ज्ञाता, न्यायपूर्वक प्रतिपादन करने वाला, जैन विद्वान और अन्य विद्वानों को जिसका उपदेश प्रिय लगता है ऐसा, व्रत युक्त और व्रतिमान्य, जैनमत में प्रेम रखने वाला, सामुद्रिक लक्षणों से युक्त, स्वपक्ष-सिद्धि करने में तत्पर, आगमोक्त पक्ष का प्रतिपादक, राजमान्य, श्रोता के प्रश्न का उत्तर जिसके मन में तत्काल प्रगट होता है, सुन्दर और कुलीन, उदारचित्त, आर्यदेश में जन्मा हुआ, उत्तम जाति में पैदा हुआ, नई नई कल्पना जिसके मन में उत्पन्न होती है, शिष्टाचारी, निर्व्यसनी, सम्यग्दृष्टि, मधुर बोलने वाला, आगममान्य विषयों को स्पष्ट करने वाली बुद्धि का धारक, सम्मान्य प्रसन्न चित्त वाला, वादियों का प्रभु, वादिओं के समूह से बंदित, (मान्य) श्रेष्ठ कवि, पर निंदा से सदा दूर रहने वाला, हितोपदेशी, तथा शीलसागर, सुस्वभाव, व्रतरक्षण, ब्रह्मचर्य और सद्गुण पालन, इन गुणों का सागर श्रेष्ठ वक्ता होता है।।

श्रोता प्रशस्यते शीललीलालकृतविग्रहः
सद्धिः सुदर्शनः श्रीमान्नानालक्षणलक्षितः।।(52)
दाता भोक्ता व्रताधिष्ठो विशिष्टजनजीवनः
पूर्णाक्षः पूर्णचेतस्को हेयादेयार्थदृक् शुचिः।(।53)
शुश्रूषाश्रवणाधारो ग्रहणे धारणे स्मृतौ।
ऊहापोहार्थविज्ञानी सदाचाररतश्च सः।।(54)
सत्कलाकुशलः कौल्योः गुर्वाज्ञाप्रतिपालकः
विवेकी विनयी विद्वांस्तत्त्वविद्विमलाशयः।।(55)
सावधानो विधानज्ञो विबुधो बन्धुरः सुधीः
दयादत्तिप्रधानश्च जिनधर्मप्रभावकः।।(56)
सदाचारो विचारज्ञो धर्मज्ञो धर्मसाधनः।
क्रियाग्रणीः सुगीर्मान्यो महतां मानवर्जितः।।(57)

(श्रोता के लक्षण) जिसका शरीर शील से भूषित हुआ हो, जो सम्यग्दृष्टि, शोभायुक्त, सामुद्रिक नानासुलक्षणों से युक्त शरीर वाला, दाता, भोक्ता, व्रत में तत्पर, विशिष्ट जनों को (धार्मिक जनों को आश्रय देने वाला, आंख कान आदि इंद्रियों से परिपूर्ण, स्थिर मन वाला, ग्राह्याग्राह्य पदार्थों का विचार करने वाला, पवित्र, निर्लोभी, शास्त्र सुनने की इच्छा रखने वाला, शास्त्रश्रवण करने वाला, सुना हुआ ग्रहण करने वाला तथा उसे कालान्तर में भी न भूलने वाला, स्मरण शक्ति युक्त, विचार करने वाला और दूषण निवारण करके पदार्थ का स्वरूप जानने वाला, सदाचार में तत्पर, उत्तम कलाओं में गानादिक कलाओं में कुशल, कुलीन, गुरु की आज्ञा का पालन करने वाला, विवेकी, विनयी, विद्वान् तत्त्वस्वरूप जानने वाला, निर्मल अभिप्राय वाला, सावधान रहने वाला, कार्य को जानने वाला, सम्यग्ज्ञानी, सुंदर, स्वपरहित की बुद्धि रखने वाला, दयादान देने वालों में मुख्य, जिन धर्म की प्रभावना करने वाला, सदाचारी, विचारवान्, धर्म के स्वरूप का ज्ञाता, धर्म साधने वाला, धर्म कार्य करने में प्रमुख, मधुर और हितकर भाषण करने वाला, और गर्व रहित, ऐसे श्रोता की सज्जन प्रशंसा करते हैं।

शुभाशुभादिभेदेन श्रोतारो बहवो मताः
हंसधेनुसमाः श्रेष्ठा मृच्छुकाभाश्च मध्यमाः।।(58)

मार्जाराजशिलासर्पकङ्कच्छिद्रघटैः समाः।
चालिनीदंशमहिषजलौकाभाश्च तेऽधमाः।।(59)

असच्छ्रोतरि निर्णाशमुक्तं शास्त्रं भजेद्यथा।
जर्जरे चामपात्रे वा पयः क्षिप्तं कियत्स्थिति।।60

सदग्रे कथितं शास्त्रं गुरुणा सार्थकं भवेत्।
सुभूमौ पतितं बीजं फलवज्जायते यथा।।(61)

कथा वाक्यप्रबन्धार्था सत्कथा विकथा च सा।
द्विधा प्रोक्ता सुकथ्यन्ते यत्र तुत्त्वानि सा कथा।।(62)

व्रतध्यानतपोदानसंयमादिप्ररूपिका
पुण्यपापफलावाप्तिः सत्कथा कथ्यते जिनैः।।(63)
विचित्राणि चरित्राणि चरमाङ्गादिदेहिनाम्।
कथ्यन्ते सत्कथा सद्भिर्यत्र धर्मार्थवर्धिनी।।(64)

शुभ श्रोता, अशुभ श्रोता इत्यादिक श्रोताओं के अनेक भेद हैं। हंस और गाय के स्वभाव वाले श्रोता श्रेष्ठ हैं, क्योंकि वे उपदेश में से ग्राह्यतत्त्व को लेते हैं और त्याज्य को छोड़ते हैं। मिट्टी और तोता के स्वभाव वाले श्रोता मध्यम है और बिल्ली, बकरा, पत्थर, सर्प, बगुला, सच्छिद्र घट चालनी, मच्छर, और जोंक के समान जिनका स्वभाव है वे श्रोता अधम माने गये हैं। अधम श्रोताओं को शास्त्र सुनाने से शास्त्र का नाश होता है। जीर्ण अथवा कच्चे घट में रखा हुवा पानी कितने काल तक रहेगा ?। जिस तरह उत्तम खेत में बोया हुआ बीज विपुल फल देने वाला होता है, उसी तरह सज्जन श्रोता के आगे उत्तमगुरु का कहा शास्त्र सफल होता है।

(कथा का लक्षण तथा उनके भेद) वाक्यों की रचना करके अपने विषय का वर्णन करने को, कथा कहते हैं। सत्कथा और विकथा ऐसे कथाके दो भेद कहे हैं। तत्त्वों का सुंदर पद्धति से निरूपण करने वाली, व्रत, ध्यान, तप, दान और संयम आदि का वर्णन करने वाली, पुण्य पापों के फल की प्राप्ति बताने वाली कथा को जिनेन्द्र देव सत्कथा कहते हैं। सज्जन पुरुष जिस कथा में तद्भवमोक्षगामी तीर्थंकर, गणधर, नारायण, बलभद्र, आदिओं के धर्म और अर्थ की वृद्धि करने वाले अनेक

प्रकार के चरित्र का वर्णन करते हैं, तथा जिसमें जीवादिक द्रव्य, चंपा, पावादि पवित्र क्षेत्र एवं रत्नत्रय का वर्णन होता है वह सुकथा है।

धर्म और धर्म के फलों में जो अत्यंत प्रीति उत्पन्न होती है उसे संवेग कहते हैं। यह संवेग जिस कथा के द्वारा उत्पन्न होता है उसे विद्वानों ने शास्त्रों में संवेगार्थ बढाने वाली कथा कहा है। देह, भोग और संसार में विरक्ता उत्पन्न होना निर्वेग कहा जाता है। निर्वेग के लिये जो कथा कही जाती है उसे निर्वेजिनि कथा कहते हैं। स्याद्वाद के द्वारा जैनमतकथित जीवादितत्त्वों की व्यवस्था करके परमत के तत्त्वों का खण्डन जिसमें किया जाता है उसे जिनेश्वर ने ऊहापोहार्थ विज्ञानी अर्थात् तर्कवितर्कयुक्त कथा-आक्षेपिणी कथा कहा है। जो सम्यक्त्व गुण से परिपूर्ण है अर्थात् जो सम्यग्दर्शन को उत्पन्न करती है, सम्यग्ज्ञान तथा चारित्र से युक्त है, जो अहिंसा, सत्य आदिक नाना गुणों को बढाती है उसे गुणवर्द्धिनी कथा अथवा विक्षेपिणी कथा कहते हैं। वशिष्ट, वेदव्यास, द्वैपायन आदि मिथ्यात्वी ऋषियों से जिस कथा की उत्पत्ति हुई है वह कल्पनाकल्पित होने से विकथा है और पापवर्धक है। कथा के प्रारम्भ में द्रव्य, क्षेत्र, तीर्थ, काल, भाव, फल और प्रकृत ये कथा के सात अङ्ग आचार्यों ने कहे हैं। इस प्रकार कथामुख कहकर जिसमें प्राचीन महापुरुषों की कथा का सार है तथा जो 'भारत' नाम से प्रसिद्ध है उस अतिशय पवित्र पाण्डव पुराण को हम कहते हैं। सज्जन और विद्वान लोगों से भरे हुए इस विस्तीर्ण जम्बूदीप में सरस्वती के अतिशय से अलङ्कृत हुआ समृद्ध भरत क्षेत्र शोभायमान हो रहा है। इस भरत क्षेत्र में धैर्ययुक्त श्रेष्ठ आर्यों का निवास जिसमें है ऐसा मनोहर आर्यखंड है। इस में अखण्ड ऐश्वर्य के धारक इन्द्र के समान, जीवों को अभयदान देने वाले धनिक लोक रहते हैं। इस आर्य खण्ड में विदेह नामक देश बहुत सुंदर है। इसमें रहने वाले स्त्री पुरुष अपने शरीर के विशिष्ट गुणों से हमेशा विदेह-विशेष गुण सहित शरीर युक्त होते हैं। वहां के रत्नत्रयधारक भाग्यशाली मुनि ध्यानरूपी अग्नि और तपश्चरण के द्वारा कर्मनाश करके विदेह-मुक्तावस्था को प्राप्त होते हैं। अतएव सत्पुरुषों ने इस देश को 'विदेह' यह सार्थक नाम दिया है।।

ज्ञानावरण और दर्शनावरण के आस्रव

तत्प्रदोषनिह्नवमात्सर्यान्तरायासादनोपघाता ज्ञानदर्शनावरणयोः।(10) मो. शा.

ज्ञान और दर्शन के विषय में प्रदोष, निह्नव, मात्सर्य, अन्तराय, आसादना और उपघात ये ज्ञानावरण और दर्शनावरण के आस्रव हैं।

1. प्रदोष- किसी के ज्ञानकीर्तन (महिमा सुनने) के अनन्तर मुख से कुछ न कहकर अंतरंग में पिशुनभाव होना, ताप होना प्रदोष है। मोक्ष की प्राप्ति के साधनभूत मति, श्रुत आदि पाँच ज्ञानों की वा ज्ञान के धारी की प्रशंसा करने पर वा उसकी प्रशंसा सुनने पर मुख से कुछ नहीं कहकर के मानसिक परिणामों में पैशून्य होता है वा अंतकरण में उसके प्रति जो ईर्ष्या का भाव होता है, वह प्रदोष कहलाता है।

2.निह्नव-दूसरे के असिन्धान से ज्ञान का व्यपलाप करना निह्नव है। यत् किञ्चित परनिमित्त को लेकर किसी बहाने से किसी बात को जानने पर भी मैँ इस बात को नहीं जानता हूँ, पुस्तक आदि के होने पर भी 'मेरे पास पुस्तक आदि नहीं है' इस प्रकार ज्ञान को छिपाना ज्ञान का व्यपलपन करना, ज्ञान के विषय में वञ्चन करना निह्नव है।

3. मात्सर्य-देय ज्ञान को भी योग्य पात्र के लिए नहीं देना मात्सर्य है। किसी कारण से आत्मा के द्वारा भावित, देने योग्य ज्ञान को भी योग्य पात्र के लिए नहीं देना मात्सर्य है।

4. अन्तराय-ज्ञान का व्यवच्छेद करना अन्तराय है। कलुषता के कारण ज्ञान का व्यवछेद करना, कलुषित भावों के वशीभूत होकर ज्ञान के साथ पुस्तक आदि का व्यवच्छेद करना, नाश करना, किसी के ज्ञान में विघ्न डालना अन्तराय है।

5. आसादना- वचन और कार्य से वर्जन करना आसादना है। दूसरो के द्वारा प्रकाशित ज्ञान का काय एवं वचन से वर्जन (गुण-कीर्तन, विनय आदि नहीं करना) आसादना है।

6. उपघात- प्रशस्त ज्ञान में दूषण लगाना उपघात है। स्वकीय बुद्धि और हृदय की कलुषता के कारण प्रशस्त ज्ञान भी अप्रशस्त, युक्त भी अयुक्त प्रतीत होता है अतः समीचीन ज्ञान में भी दोषों का उद्भावन करना, झूठा दोषारोपण करना उपघात कहलाता है, उसको उपघात जानना चाहिये।

आसादना और उपघात में एकत्व नहीं है क्योंकि आसदना में विद्यमान ज्ञान का विनय-प्रकाशन, गुणकीर्तन आदि न करके अनादर किया जाता है और उपघात में ज्ञान को अज्ञान कहकर ज्ञान का ही नाश किया जाता है अथवा ज्ञान के नाश करने का अभिप्राय रहता है; अतः आसादना और उपघात में भेद स्पष्ट है।

'तत्' शब्द से ज्ञान-दर्शन ग्रहण किये जाते हैं। 'तत्' शब्द से ज्ञान-दर्शन के प्रति निर्देश किया गया है। अर्थात् ज्ञान और दर्शन के प्रति प्रदोष, निह्नव, मात्सर्य, अन्तराय, आसादना और उपघात, ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म के आस्रव के कारण हैं।

प्रदोषादि के विषयभेद से भेद सिद्ध होने से ज्ञानावरण और दर्शनावरण के आस्रव पृथक्-पृथक् हैं। ज्ञानावरण और दर्शनावरण के आस्रव भिन्न-भिन्न समझने चाहिये, क्योकि विषय-भेद से प्रदोषादि भिन्न हो जाते हैं। ज्ञान विषयक प्रदोषादि ज्ञानावरण के और दर्शन विषयक प्रदोषादि दर्शनावरण के आस्रव के कारण होते हैं। आचार्य और उपाध्याय के प्रतिकूल चलना, अकाल में अध्ययन करना, अश्रद्धा, शास्त्राभ्यास में आलस्य करना, अनादर से अर्थ का श्रवण, तीर्थोपरोध (दिव्य-ध्वनि) के काल में स्वयं व्याख्यान करने लगना, स्वकीय बहुश्रुत का गर्व करना, मिथ्योपदेश देना, बहुश्रुतवान् का अपमान वा अनादर करना, अपने पक्ष का दुराग्रह, स्वपक्ष के दुराग्रह के कारण असंबद्ध प्रलाप करना, सूत्र विरुद्ध बोलना, असिद्ध से ज्ञानाधिगम (असिद्ध से ज्ञान-प्राप्ति) शास्त्र विक्रय और हिंसादि कार्य ज्ञानावरण कर्म के आस्रव के कारण हैं। दर्शन मात्सर्य, दर्शनान्तराय, आँखें फोड़ना, इन्द्रियों के विपरीत प्रवृत्ति, अपनी दृष्टि का गर्व, बहुत देर तक सोये रहना, दिन में सोना, आलस्य, नास्तिक्य, सम्यग्दृष्टियों में दूषण लगाना, कुतीर्थ प्रशंसा, जीव हिंसा और मुनिगणों के प्रति ग्लानि के भाव आदि भी दर्शनावरण कर्म के आस्रव के कारण हैं।

स्वाध्याय तप के 5 भेद

वाचनापृच्छनानुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशाः।।(25)

वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश यह पाँच प्रकार का स्वाध्याय हैं।

1. **वाचना**-निरपेक्ष भाव से तत्त्वार्थज्ञ के द्वारा पात्र के लिए जो निर्दोष ग्रंथ या ग्रंथ के अर्थ या दोनों (ग्रंथ और अक्षर इन) का प्रतिपादन किया जाता है वह वाचना है।

2. **पृच्छना**-संशयच्छेद या निर्णय की पुष्टि के लिए ग्रंथ, अर्थ या उभय के लिए दूसरे से पूछना पृच्छना है।

3. **अनुप्रेक्षा**-अधिगत (जाने हुए) अर्थ का मन के द्वारा अभ्यास करना अनुप्रेक्षा है। वस्तु के स्वरूप को जानकर संतप्त लोह पिण्ड के समान चित्त को तद्रूप बना लेना और बार-बार मन से उसका अभ्यास करना अनुप्रेक्षा नाम का स्वाध्याय है।

4. **आम्राय**-विशुद्ध घोष से पाठ का परिवर्तन करना आम्राय है। आचार पारगामी व्रती का लौकिक फल की अपेक्षा किए बिना द्रूत विलम्बित आदि उच्चारण दोषों से रहित होकर विशुद्ध पाठ का फेरना, घोष करना आम्राय स्वाध्याय है, ऐसा कहा जाता है।

5. **धर्मोपदेश**-धर्मकथा आदि का अनुष्ठान करना धर्मोपदेश है। लौकिक ख्याति, लाभ आदि इष्ट प्रयोजन के बिना, उन्मार्ग की निवृत्ति के लिए, संशय को दूर करने के लिए तथा अपूर्व पदार्थ के प्रकाशन के लिए धर्मकथा आदि का अनुष्ठान कथन करना धर्मोपदेश नामक स्वाध्याय कहलाता है।

प्रवचनकर्त्ता व ग्रन्थकर्त्ता आचार्यादि के सद्गुण

(चालः- मेरे नैना सावन भादो....)

हे सूरीवर!/(आचार्यश्री) प्रवचनकर्ता...आप हो बहुगुण/(ज्ञान) धारी...
अन्यथा आप न बन पाओगे...श्रेष्ठ प्रवचनकारी/(ग्रन्थकारी)...स्थायी)
स्पष्ट उच्चारणकरी...युक्तियुक्त भाषणकारी...
वाग्मी व बुद्धिमान हो...सन्तोष उत्पादक...निर्मल अभिप्राय कारी...
महाचतुर-लोकव्यवहार ज्ञाता...शास्त्रों के मार्गज्ञानी...हे सूरीवर...(1)...
निस्पृही, प्रशान्तकषायी...जितेन्द्रिय-जितात्मा-संयमी...
प्रवीण-सौम्य, सुन्दर दृष्टि...कल्याण रूप-श्रुतज्ञानधारी...2

जीवादि तत्त्व विज्ञाता...जैनेतर षट्दर्शन ज्ञानी...2 हे सूरीवर...(2)...
न्यायपूर्वक प्रतिपादन...जैनाजैन विद्वान प्रियकारी...
व्रतयुक्त व व्रतीमान्य हो...जैनमत में प्रेमधारी...2
सामुद्रिक सुलक्षण युक्त...स्वमत सिद्धिकारी...हे सूरीवर...(3)...
आगमोक्त पक्ष प्रतिपादक...राजमान्य-दृष्टोत्तर प्रज्ञाकुशल...
सुन्दर, कुलीन, उदारचित्त...आर्य देशज-उत्तम जाति...2
नव-नव कल्पना उत्पन्न मनस्वी...सुदृष्टि शिष्टाचारी...2 हे सूरीवर...(3)...
आगम स्पष्टगमक, मधुरभाषी...सम्मान्य-प्रसन्नचित्तधारी...
वादियों के प्रभु वादियों से वन्दित...पर निन्दा रिक्त श्रेष्ठ कवि...2
व्रत रक्षक, सुस्वभावधारी...शीलसागर, हितोपदेशी...2...हे सूरीवर(4)
ब्रह्मचर्य, सद्गुणपालनकारी...शास्ता, गुरु, सदुपदेशी...
इत्यादि गुणयुत उपदेशकारी...ग्रन्थकर्त्ता पाठक सूरी...2
अन्य साधु-साध्वी-क्षुल्लक श्रावक भी...यथायोग्य गुणधारी...2 हे सूरीवर...(5)...
अन्यथा वक्ता के प्रवचन-रचनादि...होंगे दोषकारी...
जिससे वे प्रवचन ग्रन्थादि...होंगे स्व-पर-विश्व अहितकारी...2
प्रवचनकर्त्ता होते स्व-पर प्रकाशी...'कनक' आगमोक्त विधिधारी...2...हे

ग.पु.कॉ, दि. 7.6.2020, मध्याह्न 3.03
(यह कविता पाण्डव पुराण के अनुसार बनी।)

इस प्रकार ऊपर कहे गये महान गुणों से युक्त, गुणों की प्रधानता से शोभायमान, घोर उपसर्ग परीषह में भी स्थिरयोगी, गुणों के धारक होने से लोक में प्रभाव है, जो सदा गण में प्रधान नायक पद पर आसीन रहते हैं, जो अलौकिक हैं अर्थात् जिनकी अलौकिक चर्या है, जो पूर्वसंचित कर्मो के विपाक से प्राप्त जन्म-जरा-मरण आदि दोषों से अप्रभावित हैं, ऐसे आचार्य भगवन्तों को मैं विधिपूर्वक दोनों हाथों की अञ्जलि बाँधकर हस्तकमलों से शिर झुकाकर नमस्कार करता हूँ। हे आचार्य भगवन्त! आपकी स्तुति के प्रसाद से मुझे अक्षय-अविनाशी-निर्दोष मुक्ति सुख प्राप्त हो।

श्रुतजलधिपारगेभ्यः, स्वपरमतविभावनापटुमतिभ्यः।
सुचरित तपोनिधिभ्यो, नमो गुरुभ्यो गुणगुरुभ्यः।।(1)

जो श्रुतरूपी समुद्र में पारंगत है, स्याद्वादमत जैनमत व एकान्त रूप परमत के विचार में, ज्ञान में जिनकी बुद्धि चतुर है, अति प्रखर है, सम्यक्चारित्र और तप निधियाँ हैं तथा जिनके पास अतिमात्रा में गुण हैं, ऐसे आचार्यों, गुरुओं को मेरा नमस्कार हो।

छत्तीसगुणसमग्गे, पंचविहाचारकरण संदरिसे।
सिस्साणुग्गहकुसले, धम्माइरिये सदा वंदे।।(2)

जो आचार्य परमेष्ठी 12 तप 10 धर्म 6 आवश्यक 3 गुप्ति और 5 आचार रूप 36 मूलगुणों से पूर्ण हैं, पंचाचार-दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार का स्वयं आचरण करते हैं शिष्यों से भी आचरण करवाते हैं, शिष्यों पर अनुग्रह करने में निपूण हैं; ऐसे धर्माचार्य की मैं सदा वन्दना करता हूँ।

गुरुभत्ति संजमेण य, तरंति संसारसायरं घोरं।
छिण्णंति अट्ठकम्मं, जम्मणमरणं ण पावेंति।।(3)

हे भव्यात्माओं! गुरु भक्ति व संयम की आराधना से जीव संसार रूपी भीषण समुद्र को पार करते हैं, वे अष्टकर्मों का क्षय कर जन्म-मरण के दुःखों से छूट जाते हैं।

ये नित्यं व्रतमंत्रहोमनिरता, ध्यानाग्नि होत्राकुलाः।
षट्कर्माभिरतास्तपोधन धनाः, साधुक्रियाः साधवः।।
शीलप्रावरणा गुणप्रहरणाश्चंद्रार्क तेजोऽधिकाः।
मोक्षद्वार-कपाट-पाटनभटाः प्रीणंतु मां साधवः।(4)

जो आचार्य परमेष्ठी व्रतरूपी मंत्रों से कर्मों का होम करते हैं, ध्यानरूपी अग्नि में कर्मरूपी ईंधन को देते हैं, षट् आवश्यक क्रियाओं में सदा तत्पर रहते हैं, तपरूपी धन जिनका सच्चा धन है, पुण्य कर्मों में कुशल है, अठारह हजार शीलों की चुनरिया जिनका वस्त्र है, मूल व उत्तर-गुण जिनके पास शस्त्र हैं, सूर्य और चन्द्र का तेज भी जिनके सामने लज्जित हो रहा है, मोक्षमंदिर के द्वार को खोलने में शूर हैं, ऐसे वे तपोधन मुझ पर प्रसन्न होवें।

गुरवः पान्तु नो नित्यं ज्ञानदर्शन नायकाः।
चारित्रार्णव गंभीरा, मोक्षमार्गोपदेशकाः।(5)

सम्यक्ज्ञान व दर्शन के स्वामी, चारित्र पालन में समुद्रवत गंभीर, मोक्ष मार्गोपदेशक आचार्य गुरुदेव हमारी रक्षा करें।

प्राज्ञः प्राप्तसमस्त शास्त्र हृदय, प्रव्यक्तलोकस्थितिः।
प्रास्ताशः प्रतिभापर प्रशमवान् प्रागेव दृष्टोत्तरः।।
प्रायः प्रश्नसहः प्रभुः परमनोहारी परानिन्दया।
ब्रूयाद्धर्मकथां गणीं गुणानिधिः, प्रस्पष्ट मिष्टाक्षरः।(6)

विद्वान, समस्त शास्त्रों के मर्मज्ञ, लोकज्ञ, निस्पृह, प्रतिभावान/समय सूचकता में पारंगत, समभावी, प्रश्नों के पूर्व उत्तर ज्ञाता, बहु प्रश्नों को सहने में समर्थ, दूसरों के मन को हरने वाले/मनोज्ञ, पर-निन्दा से रहित, मधुर व स्पष्ट वक्ता, गुण निधि ऐसे आचार्य परमेष्ठी होते हैं।

श्रुतविकलं शुद्धा वृत्तिः परप्रतिबोधने।
परिणतिरुरुद्योगो मार्ग प्रवर्तन सव्दिधौ।।
बुधनुतिरनुत्सेको, लोकज्ञाता मृदुताऽस्पृहा।
यतिपतिगुणा यस्मिन्नन्ये च सोऽस्तु गुरुः सताम्।(7)

पूर्णज्ञान, शुद्ध आचरण, परोपदेशक, भव्यों को समीचीन पथ में लगाना, विद्वन्मन्य, विनयवान, मार्दवता, लोकज्ञता निस्पृहता गुण जिनमें हैं वे मुनियों के स्वामी ही सज्जनों के गुरु आचार्य हो सकते हैं, दूसरे अन्य कोई नहीं।

विशुद्धवंशः परमाभिरूपो जितेन्द्रियोधर्मकथाप्रसक्तः।
सुखर्द्धिलाभेष्वविसक्तचित्तो बुधैः सदाचार्य इति प्रशस्तः।(8)

जो शुद्ध वंश में उत्पन्न हुए हैं, सुन्दर, सुडौल, रूपवान् हैं, इन्द्रियविजेता हैं, धर्म-कथाओं के उपदेशक हैं, सुख, ऋद्धि आदि लाभ में आसक्त रहित हैं ऐसे यति आचार्य हैं ऐसा बुद्धिमानों ने कहा है।

विजितमदनकेतुं निर्मलं निर्विकारं,
रहितसकलसंगं संयमासक्त चित्तं।
सुनयनिपुणभावं ज्ञाततत्त्वप्रपञ्चम्
जननमरणभीतं सद्गुरु नौमि नित्यम्।।(9)

कामदेव के विजेता, शुद्ध विकाररहित, समस्त परिग्रह के त्यागी, द्रव्य-भाव संयम या इन्द्रिय-प्राणी संयम में मन को लगाने वाले, समीचीन नयों के वर्णन में निपुण, पूर्ण तत्त्वज्ञ, जन्म-मृत्यु से भयभीत सच्चे निर्ग्रंथ गुरुओं को मैं सदा नमस्कार करता हूँ।

सम्यग्दर्शन मूलं, ज्ञानस्कंधं चरित्रशाखाढ्यम्।
मुनिगणविहगाकीर्ण-माचार्य महाद्रुमम् वन्दे।।(10)

आचार्य परमेष्ठी को एक विशाल वृक्ष की उपमा दी गई हैं। वह आचार्यरूपी वृक्ष कैसा है- सम्यग्दर्शन उसकी जड़, ज्ञान उसका स्कन्ध है, चारित्र-विविध प्रकार के सामायिक आदि चारित्र इसकी शाखाएँ हैं, मुनिरूपी पक्षीगण इसमें सदा धर्म्यध्यान में लीन रहकर चहकते रहते हैं ऐसे इस आचार्य रूपी महावृक्ष को मैं नमस्कार करता हूँ।

अञ्चलिका

इच्छामि भंते! आइरियभत्ति-काउस्सग्गो कओ तस्सलोचेउं सम्मणाण, सम्मदंसण सम्मचरित्तजुत्ताणं पंचविहाचाराणं आइरियाणं, आयारादि सुदणाणोवदेसयाणं, उवज्झायाणं, तिरयणगुणपालणरयाणं, सव्वसाहूणं, णिच्चकालं, अंचेमि, पूजेमि, वंदामि, णमस्सामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाहो, सुगइगमणं, समाहिमरणं, जिण-गुण-सम्पत्ति होउ-मज्झं।

मैं आचार्यभक्ति सम्बंधी कायोत्सर्ग के बाद उसकी आलोचना करता हूँ। रत्नत्रयधारक, पञ्चाचारपालक आचार्य परमेष्ठी, द्वादशांग श्रुत के उपदेशक उपाध्याय परमेष्ठी तथा रत्नत्रय गुणों से मण्डित साधु परमेष्ठी की मैं सदा काल अर्चा, पूजा, वन्दना, आराधना करता हूँ, इनके फलस्वरूप मेरे दुखों का क्षय हो, कर्मों का क्षय हो, रत्नत्रय की प्राप्ति हो, उत्तमगति की प्राप्ति हो, समाधिपूर्वक मरण हो तथा जिनेन्द्रदेव के गुणों की प्राप्ति हो।